ब्रह्मलीन श्री १००८

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

१२५वाँ जन्म महोत्सव

ॐ

॥ स्मारिका ॥

२००४

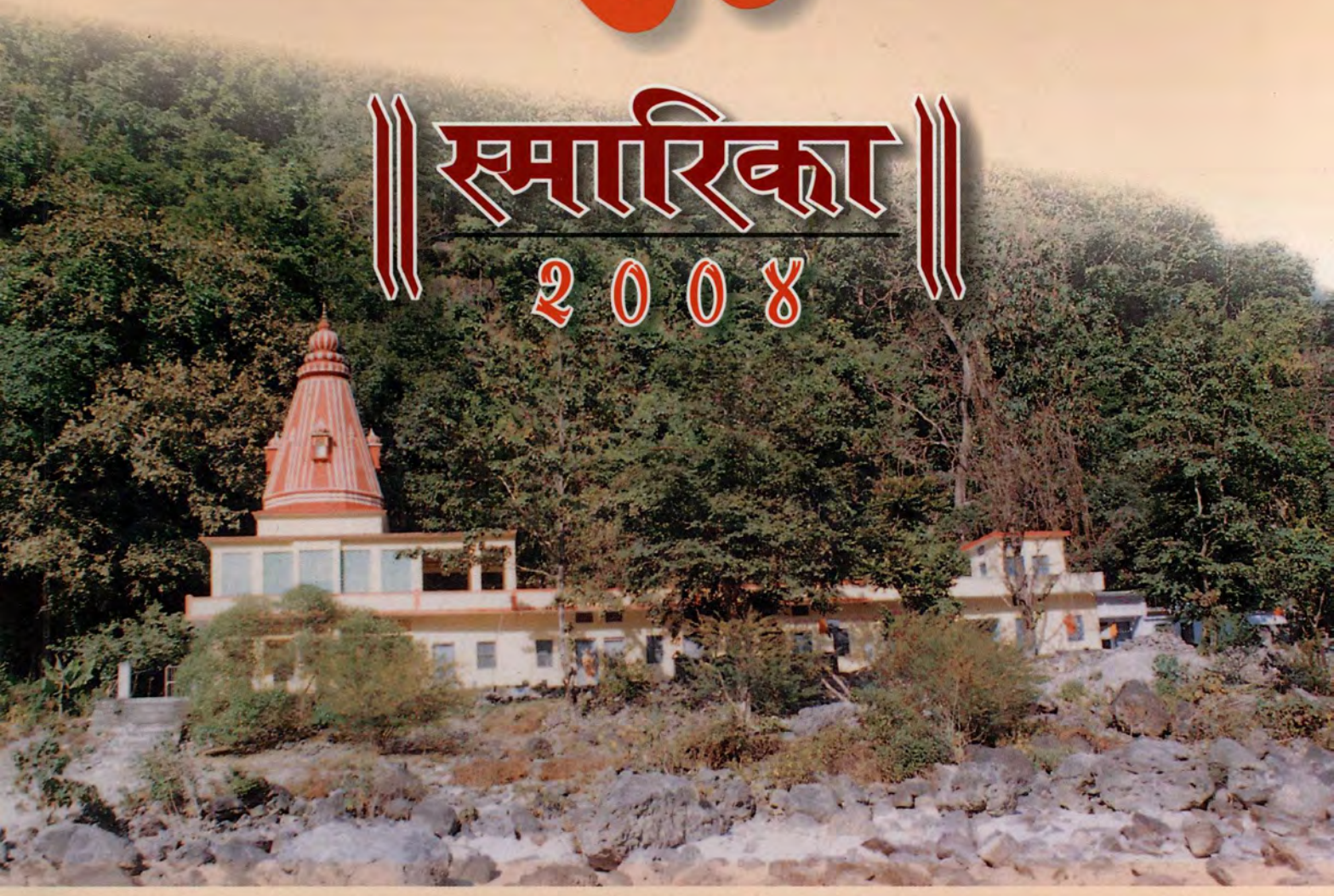

श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट

वशिष्ठ गुहा आश्रम, गूलर डोगी, टेहरी गढ़वाल, उत्तरांचल

बीसवीं सदी पूर्वार्द्ध में वशिष्ठ गुहा एवं श्री महाराज जी

हम क्या खोज रहे हैं

आनन्द

स्मारिका

ब्रह्मलीन श्री १००८
स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज
का
१२५वाँ जन्म महोत्सव

स्वामी चैतन्यानन्द
श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट
वसिष्ठ गुहा आश्रम
गूलर डोगी,
टेहरी गढ़वाल, उत्तरांचल

२२ नवम्बर, २००४

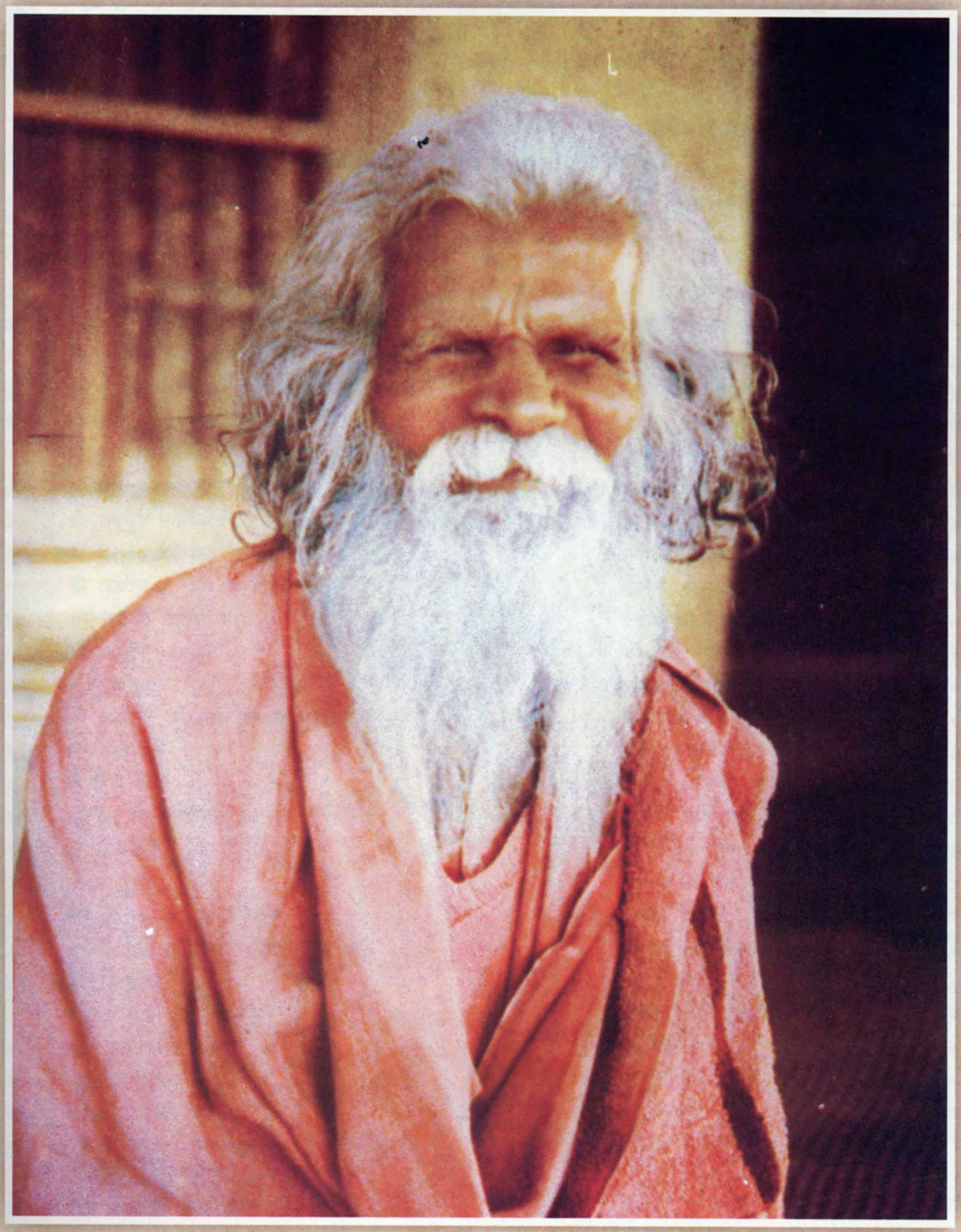

श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

अनुक्रम (हिन्दी विभाग)

क्र.		लेखक	पृष्ठ
1.	पुरुषोत्तम धाम का पावन सन्देश	स्वामी चैतन्यानन्द	7
2.	श्री गुर्वष्टोत्तर शतनामावली (अर्थ सहित)	डॉ. एम.के. गुप्ता	8
3.	महामुनि वसिष्ठ पुनः अपनी गुफा में	स्वामी रघुवीर आनन्दपुरी	13
4.	ज्ञान कुम्मी (पद्यानुवाद-प्रज्ञागीत)	स्वामी रघुवीर आनन्दपुरी	20
5.	गुरु महाराज जी की ज्ञान कुम्मी का सरल हिन्दी भावानुवाद	स्वामी चैतन्यानन्द	22
6.	महासमाधि	स्वामी चैतन्यानन्द	23
7.	सद्गुरु-प्रसाद	स्वामी बालानन्द	27
8.	वसिष्ठ गुफा के योगी	स्वामी आत्मानन्द	31
9.	श्री सद्गुरु सान्निध्य	स्वामी रघुवीर-आनन्दपुरी	37
10.	श्री गुरुदेव की एक झलक	स्वामी चैतन्यानन्द	40
11.	श्री गुरुदेव के कुछ संस्मरण	स्वामी पुरहरानन्द	43
12.	मेरे गुरुदेव करुणामय	स्वामी शान्तानन्द पुरी	45
13.	श्री सद्गुरु का प्रसाद	हंसराज नागर	47
14.	मेरे सद्गुरु	भगीरथ लाल	47
15.	श्री महाराज जी तथा मेरे कुछ संस्मरण	सीताराम श्रीवास्तव	49
16.	गुरु महाराज	सुशीला जर्मनीदास	51
17.	मैं कैसे बची	शान्ति मेहरोत्रा	51
18.	गुरुदेव से सम्बन्धित अनुभव	रामजी उपाध्याय	52
19.	गुरु कौन है	डॉ. वीरेन्द्र कुमार शर्मा	53
20.	श्रद्धा सुमन	डॉ. सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव	56
21.	जब मैं फफक कर रो पड़ा	महेन्द्र अकेला	58
22.	वसिष्ठ गुहा के गुरुदेव-कुछ संस्मरण	टी.आर. श्रीनिवासन	60
23.	मेरा अनुभव	नरेन्द्र वर्मा	63
24.	वसिष्ठ गुहा- एक विरासत	उमेश चन्द्र श्रीवास्तव	65
25.	पूजा की थाली	श्रीमती शारदा बहादुर	67
27.	मन की पुकार	श्रीमती नीरजा दिनेश	68
28.	आश्रम की मर्यादा	'द विजन' से	69
29.	श्री श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज के 125वें जन्म जयन्ती पर्व पर	योगेश 'प्रवीन'	71
26.	एक भक्त के हृदयोद्गार	अंजनी कुमार	72

●●●

Contents (English Section)

Sl.		Writer	Page
1.	What are we Seeking? Happiness	Sri Swami Purushottamanandji Mahraj	73
2.	Message delivered by Guru Maharaj Ji on his Birthday at Vasishtha Guha		74
3.	'Jnanakkummi' The Song of Wisdom		77
4.	A Peep into The Gita	Sri Swami Purushattamanandji Mahraj	79
5.	Gems from "Thoughts of Gurudev"		81
6.	Great Sage Passes Away– A press release		83
7.	Conversations with Sri Swami Purushattamananda at Ram Krishna Math, Madras 24th June to 2nd July 1952		84
8.	Sundry Incidents (Experiences) fram "Life of Swami Purushottamananda"		95
9.	I Meet My Master	Swami Nischalananda	99
10.	At the feet of my Guru	Swami Nirvedananda	101
11.	Heart-felt offerings to GURU	Swami Nirvedananda	105
12.	A Foreigner Meets Maharaj	Swami Jnanananda Giri	106
13.	The Light af Vashishtha Guha	Swami Krishnananda	107
14.	My Sacred Reminiscences	Swami Sankarananda	108
15.	Gurudev - A saurce of never ceasing wonders	Swami Shantananda	111
16.	A Brief Life Sketch of Swami Purushottamananda Ji Maharaj "The sage af Vashishtha Guha"	Swami Satprabhananda	116
17.	'My Great Master'	Swami Purushottam Das	119
18.	Swami Purushottamanand Ji–A deep Vedantin	K.M. Munshi	121
19.	How I Met My Gurudeo	Late Ishwari Dayal Srivastava	122
20.	Glimpses of SADGURU MAHARAJ	Brahm Sarup Khetarpal	126
21.	Some Reminiscences of my Gurudev	Dr. M.C. Mehratra	129
22.	On his Lotus Feet	Dr. A.N. Srivastava	130
23.	Unceasing Kindness of Maharaj ji	A.R. Verma	131
24	My First Darshan of Guru Maharaj	Paritosh Kumar Biswas	133
25	Portrayal of Feelings	Superna Srivastava	135
26.	Shri Purushottamanand Trust Vasishta Guha Ashram -A brief repart		136

•••

ॐ

हम क्या खोज रहे हैं - आनन्द !

जिस की खोज में हम हैं वह हमारे भीतर ही है। हममें दिव्य और अक्षय आनन्द का महासागर लहरा रहा है। जिसकी एक ही बून्द हमें सर्वदा के लिए आत्म–विभोर करने की शक्ति रखती है तथा हमारे समस्त क्लेशों का पूर्णतया नाश कर सकती है। किन्तु मूर्खतावश इसे हम बाहर ढूँढते हैं। स्त्री, पुत्र, धन–सम्पत्ति, नाम और यश के द्वारा आनन्द प्राप्ति की कल्पना मिथ्या और भ्रमपूर्ण है। हमारी दशा ठीक उस मृग की भाँति है जो अपनी नाभि में कस्तूरी धारण करता है किन्तु स्वयं इसका रहस्य नहीं जानता और अपने चारों ओर की वस्तुओं, लता, वृक्ष, तृण आदि में उसकी दिव्य सुगन्धि को ढूँढ़ता फिरता है। अतएव महर्षियों द्वारा प्रणीत उपदेश ही विशुद्ध, सात्विक और चिरस्थाई आनन्द प्रदान करते हैं।

— श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

ॐ

निर्गुणोऽहम्, निष्कलोऽहम् निर्ममोऽहम, निश्चलो।
नित्य शुद्धो, नित्य बुद्धो, निर्विकारो निष्क्रियः।।
निर्मलोऽहम, केवलोऽहम्, एक एवाऽद्वितीयो।
भासुरोऽहम्, भास्करोऽहम्, नित्य तृप्तश्चिन्मयः।।
पूर्णकामः, पूर्णरूपः, पूर्णकालः पूर्णदिक्।
आदिमध्यान्तहीनो, जन्म मरण वर्जितः।।
सर्व कर्ता, सर्व भोक्ता, सर्व साक्षी सोऽस्म्यहम्।
सर्व व्यापी मद्द्वितीयो, नास्तिकिंचन क्वापिऽहो।।
आनन्दोऽहम्, अनन्तोऽहम् सद्रूपः चिद्रसोऽप्यहम्।
अहम् ब्रह्मास्मि, ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवाऽहम् सदाशिवः।।

हरि ओम्

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

आत्मा का स्वरूप

भावानुवाद

निर्गुण, निष्कल, निर्मम, निश्चल, हूँ क्रियाहीन, हूँ निर्विकार।
निर्मल हूँ मैं, केवल हूँ मैं, हूँ अद्वितीय जग एक सार।।
मैं सूर्यरूप, जाज्वल्यमान्, ज्योतिःप्रद चिन्मय नित्य तृप्त।
हूँ पूर्णकाम, मैं पूर्णरूप, सबका द्रष्टा निजरूप गुप्त।।
हूँ पूर्णकाल, हूँ आदि, मध्य और अन्तहीन, गत-जन्म-मीच।
सबका कर्त्ता भोक्ता साक्षी, सोऽहं स्वरूप सबसे अतीत।।
सबमें व्यापक हूँ, सभी ठौर, मुझसे न कहीं कुछ भी अतीत।
आनन्दरूप मैं हूँ अनन्त, सद्रूप सदा चिद्रूप सदा।।
हूँ ब्रह्मरूप, मैं ब्रह्ममात्र, कुछ अन्य नहीं शिवरूप सदा।

– स्व. श्री हंसराज नागर

पुरुषोत्तम धाम का पावन संदेश

वसिष्ठ गुहा आश्रम हिमालय के रमणीक तथा पावन जान्हवी तट पर ऋषिकेश–बद्रीनाथ मार्ग पर प्रतिष्ठित है। सदियों से महात्माओं की तपस्थली होने के कारण यह स्थान अनेक ज्ञात तथा अज्ञात महात्माओं के सान्निध्य की आध्यात्मिक तरंगों से परिपूर्ण है। हमारे गुरु महाराज श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने भी इस स्थान को अपनी तपस्थली के रूप में चुना। श्री गुरु महाराज की 125वीं जन्म जयन्ती दिनांक 22 नवम्बर, 2004 के पावन अवसर पर उनके शिष्यों तथा भक्तों द्वारा उनको समर्पित श्रद्धा सुमन और अतीत तथा वर्तमान में उनके द्वारा व्यक्त हृदयोद्गार एक 'स्मारिका' के रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। इसमें श्री गुरु महाराज के कुछ निर्देशों तथा उपदेशों को उनके आशीर्वाद रूप से समाहित किया गया है।

श्री गुरु महाराज का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रबल स्रोत है। उनके पावन चरित्र के अनन्त आयाम हैं जिनको सम्पूर्ण रूप से आत्म–सात कर पाना किसी साधारण मानव के वश की बात नहीं है। श्री महाराज जी को जिस व्यक्ति ने जिस रूप में देखा उसको उनके उसी रूप के दर्शन हुये और वे उसी रूप में उस भक्त के आध्यात्मिक प्रणेता बन गये। किन्तु, यह निर्विवाद सत्य है कि उनकी कृपा दृष्टि समस्त भक्तों पर समान रूप से है। बस, आवश्यकता इस बात की है कि भक्तगण अपनी परमार्थिक पात्रता को बढ़ाने के लिये निरन्तर पुरुषार्थ करते रहें और अपनी सूक्ष्म चेतना में उनकी कल्याणकारी अनुकम्पा पाते रहें। श्री महाराज जी के प्रति उनकी यही सच्ची पुष्पांजलि है।

समस्त साधकों एवं श्रद्धालुओं की उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति होती रहे और उनका कल्याण होता रहे, श्री महाराज जी से हमारी ऐसी ही प्रार्थना है।

इस 'स्मारिका' में प्रकाशित पाठ्य सामग्री तथा चित्रों के संकलन, उनके प्रकाशन एवं मुद्रण में श्री एच.के. श्रीवास्तव (कन्वेनर ट्रस्टी, श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट), श्री अश्विनी कुमार, श्री योगेश 'प्रवीन', श्री कामेश श्रीवास्तव, श्री डी.पी. सिंह एवं श्री विवेक अग्रवाल का उत्साहपूर्ण सहयोग रहा है। इन सभी महानुभावों को मेरी शुभकामनायें जिनके प्रयासों से 'स्मारिका' अपने वर्तमान स्वरूप में प्रकाशित हो पाई है। उन सभी को श्री गुरु महाराज का आशीर्वाद प्राप्त हो।

दिनांक : 22 नवम्बर, 2004

स्वामी चैतन्यानन्द
श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट
वसिष्ठ गुहा आश्रम,
गूलर डोगी, जिला–टिहरी गढ़वान
(उत्तरांचल)

ॐ

श्री गुरुभ्यो नमः

श्री गुर्वष्टोत्तर शतनामावली

अर्थ सहित

प्रस्तुतकर्ता : **डॉ. एम.के. गुप्ता**

1. **ॐ आनन्दवपुषे नमः** – जिन का सारा शरीर आनन्दमय है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
2. **ॐ आचार्याय नमः** – जो परमार्थ, श्रुति एवं स्मृति का ज्ञान देने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
3. **ॐ आदिमध्यान्त-रहिताय नमः** – जिन का न आदि है न मध्य न अन्त, उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
4. **ॐ दयानिधये नमः** – जो दया के सागर हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
5. **ॐ सत्यज्ञानानन्द - रूपाय नमः** – जो सत्य ज्ञान और आनन्द रूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
6. **ॐ सदाचाराय नमः** – जो सदाचारी हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
7. **ॐ योगयोनये नमः** – जिन से सारे योग प्रकट होते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
8. **ॐ प्रज्ञानघनाय नमः** – जो परिपूर्ण ज्ञानमय हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
9. **ॐ पंचकोशविलक्षणाय नमः** – जो पंच कोशों से भी परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
10. **ॐ कोटिकन्दर्पसुन्दराय नमः** – जो असंख्य कामदेवों की भाँति सुन्दर हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
11. **ॐ कृपावीक्षणाय नमः** – जो करुणामयी दृष्टि वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
12. **ॐ अतनवे नमः** – जो शरीर के भान से रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
13. **ॐ अनन्ताय नमः** – जिन की कोई सीमा अथवा अन्त नहीं है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
14. **ॐ अजाय नमः** – जो अजन्मा हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
15. **ॐ इच्छा निच्छा-विरहिताय नमः** – जो राग द्वेष रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
16. **ॐ अभोक्त्रे नमः** – जो कर्म फल का भोग नहीं करने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
17. **ॐ अद्वंद्वाय नमः** – जो शीतोष्ण आदि द्वंद्वों से परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
18. **ॐ अचिन्त्याय नमः** – जो कल्पनातीत हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।
19. **ॐ गुणत्रयविवर्जिताय नमः** – जो सत्व, रज और तम तीनों गुणों से परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

20. **ॐ गुहाशयाय नमः** – जो हृदय गुहा में निवास करते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

21. **ॐ ज्ञातृज्ञानज्ञेय - साक्षिणे नमः** – जो ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय (जानने योग्य-वस्तु) तीनों के साक्षी हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

22. **ॐ निरञ्जनाय नमः** – जो निर्लिप्त हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

23. **ॐ नित्यबुद्धाय नमः** – जो नित्य जाग्रत हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

24. **ॐ अग्रगण्याय नमः** – जो सबसे प्रथम हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

25. **ॐ अक्षरायनमः** – जो विनाश रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

26. **ॐ उदासीनाय नमः** – जिन पर संसार की किसी (वस्तु या) घटना का प्रभाव नहीं पड़ता उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

27. **ॐ उपदेष्ट्रे नमः** – जो उपदेश देने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

28. **ॐ अमलाय नमः** – जो निर्मल हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

29. **ॐ ज्ञानदेशिकाय नमः** – जो ज्ञान के गुरू हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

30. **ॐ तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ लक्ष्याय नमः** – जो तत्त्वमस्यादि वेद वाक्यों से प्रतिपादित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

31. **ॐ निष्कलाय नमः** – जो अखण्ड हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

32. **ॐ तारकाय नमः** – जो संसार सागर से पार कराने में समर्थ हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

33. **ॐ तत्त्वबोधकाय नमः** – जो आत्मा और परमात्मा की एकता को समझाते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

34. **ॐ नित्यशुद्धाय नमः** – जो सदा पवित्र हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

35. **ॐ नित्यमुक्ताय नमः** – जो सदा मुक्त हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

36. **ॐ ज्ञानलिंगाय नमः** – जिन की पहचान केवल ज्ञान है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

37. **ॐ स्वयंप्रकाशाय नमः** – जो स्वयं प्रकाशित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

38. **ॐ जन्मजरामृत्यु निवारकाय नमः** – जो जन्म, वृद्धावस्था और मरण का निवारण करते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

39. **ॐ निर्लेपाय नमः** – जो आसक्ति रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

40. **ॐ अद्भुत चरित्राय नमः** – जिन का चरित्र विस्मयकारक है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

41. **ॐ अद्वेष्ट्रे नमः** – जो द्वेष रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

42. **ॐ ऊर्ध्वरेतसे नमः** – जिन के ओज की गति ऊपर की तरफ़ है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

43. **ॐ सदसद्विरहिताय नमः** – जो कार्य कारण रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

44. ॐ **साधुगम्याय नमः** – जो साधुजनों के लिये सुलभ हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

45. ॐ **सर्वात्मने नमः** – जो सबजनों के आत्मस्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

46. ॐ **शान्ताय नमः** – जो शान्त स्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

47. ॐ **अनन्तशक्तये नमः** – जो असीम शक्तियों से युक्त हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

48. ॐ **निष्प्रपञ्चाय नमः** – जिन पर संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

49. ॐ **ईश्वराणामधीशाय नमः** – जो ब्रह्मा, विष्णु आदि ईश्वरों के अधिपति हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

50. ॐ **वेदान्तवेद्याय नमः** – जो वेदान्त और उपनिषदों के द्वारा ही जाने जाते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

51. ॐ **षडूर्मिवर्जिताय नमः** – जिनमें भूख प्यास जैसी छः लहरें उत्पन्न नहीं होती उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

52. ॐ **षट्भावरहिताय नमः** – जिनमें जन्ममरण, वृद्धि-क्षय इत्यादि छः विकार उत्पन्न नहीं होते उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

53. ॐ **अमृताय नमः** – जो स्वयं अमर हैं या भक्तों को अमर बना देते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

54. ॐ **अन्तर्यामिने नमः** – जो अन्तःकरण निवासी हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

55. ॐ **अपरिच्छेद्याय नमः** – जो देशकाल वस्तु आदि उपाधियों से सीमित नहीं हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

56. ॐ **क्षमिणे नमः** – जो क्षमावान् और सब कुछ सहन करने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

57. ॐ **कूटस्थाय नमः** – जो हृदय के अन्दर दृढ़ एवं अडिग स्थित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

58. ॐ **कैवल्यदायकाय नमः** – जो मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

59. ॐ **कपटवर्जिताय नमः** – जो कपट रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

60. ॐ **कालातीताय नमः** – जो काल से परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

61. ॐ **अवस्थात्रयसाक्षिणे** – जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के साक्षी हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

62. ॐ **अप्रमेयाय नमः** – जिन की महिमा को प्रमाण द्वारा मापा नहीं जा सकता उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

63. ॐ **अद्वयाय नमः** – जिन के जैसा और कोई नहीं है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

64. ॐ **अव्यक्ताय नमः** – जो अप्रकट हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

65. ॐ **गूढाय नमः** – जो हमारे हृदय में गुप्त रूप सेस्थित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

66. ॐ **ग्रन्थित्रय-विमोक्षणाय नमः** – जो तीनों प्रकार की गाँठों से मुक्त करा देते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

67. ॐ **चिन्मात्राय नमः** – जो केवल चैतन्य ही हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

68. ॐ **ज्ञानगम्याय नमः** – जो ज्ञान द्वारा ही उपलब्ध होते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

69. ॐ **ब्रह्मानन्दाय नमः** – जो परम आनन्दस्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

70. ॐ **भवाब्धितारकाय नमः** – जो संसार सागर से पार कराने में समर्थ हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

71. ॐ **परात्पराय नमः** – जो परम वस्तु से भी परे है (ऊँचे से भी ऊँचे हैं) उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

72. ॐ **तत्त्वमर्थाय नमः** – जो तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के अर्थभूत हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

73. ॐ **दुष्टदूराय नमः** – जो दुष्टों से दूर हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

74. ॐ **दुराचारनाशनाय नमः** – जो बुरी आदतों के नाशक हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

75. ॐ **आभास्वराय नमः** – जो सब दिशाओं में प्रकाशमान हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

76. ॐ **विधिविष्णु - शिवाकृतये नमः** – जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप धारण करने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

77. ॐ **असल्लक्षण – विलक्षणाय नमः** – जो असत् वस्तुओं के गुणों से भिन्न हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

78. ॐ **अजडाय नमः** – जिन का चैतन्य बाहर प्रकट नहीं होता उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

79. ॐ **अपारसंसारार्थ - विघट्टनाय नमः** – जो दुस्तर संसार के प्रयोजन (माया) को नष्ट कर देते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

80. ॐ **अमन्यवे नमः** – जो क्रोध रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

81. ॐ **अमोघवैभवाय नमः** – जिनकी महिमा कभी वृथा नहीं होती उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

82. ॐ **अभयंकराय नमः** – जो भय से मुक्ति देने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

83. ॐ **वरदाय नमः** – जो वांछित वस्तु प्रदान कर देते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

84. ॐ **मुक्तिरूपाय नमः** – जो मोक्ष स्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

85. ॐ **शाश्वताय नमः** – जो सदा के लिये रहने वाले हैं (अमर) उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

86. ॐ **अखण्ड-महिमाम्भोधये नमः** – जो अखण्ड वैभव का सागर हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

87. ॐ **अखण्डबोधाय नमः** – जो अखण्ड चैतन्य स्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

88. ॐ **मनोवाचामगोचराय नमः** – जो मन और वाणी की पहुँच से परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

89. ॐ **परिपूर्णात्मने नमः** – जो सब ओर से परिपूर्ण एवं तृप्त हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

90. ॐ **बाह्यान्तरस्थिताय नमः** – जो बाहर और अन्दर व्याप्त हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

91. ॐ **भक्तिश्रद्धाध्यान-गम्याय नमः** – जो भक्ति, श्रद्धा और ध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

92. ॐ **निरहंकृतये नमः** – जो अहंकार रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

93. ॐ **निर्विकाराय नमः** – जो विकार रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

94. ॐ **निर्वैराय नमः** – जो द्वेष भाव से रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

95. ॐ **लक्ष्यालक्ष्यवर्जिताय नमः** – जो प्राप्य और अप्राप्य वस्तु रहित हैं या जो देखने योग्य और न देखने योग्य वस्तु में भेद नहीं देखते उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

96. ॐ **निर्विकल्पाय नमः** – जो भेद रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

97. ॐ **अव्ययाय नमः** – जिनका नाश नहीं होता उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

98. ॐ **अनन्तरूपाय नमः** – जिनके अनगिनत रूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

99. ॐ **अनुत्तमाय नमः** – जिनसे अधिक अन्य कोई उत्तम (श्रेष्ठ) नहीं है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

100. ॐ **दक्षिणाभिमुखाय नमः** – जो दक्षिणामूर्ति स्वरूप हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

101. ॐ **अद्भुताय नमः** – जो विस्मय में डालने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

102. ॐ **अलिंगाय नमः** – जिनकी कोई पहचान नहीं है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

103. ॐ **निःसंगाय नमः** – जो आसक्ति रहित हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

104. ॐ **निर्वाणसुखदाय नमः** – जो मोक्ष का सुख देने वाले हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

105. ॐ **निगमातीताय नमः** – जो वेदों से भी परे हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

106. ॐ **नित्याय नमः** – जो नित्य हैं – जिन का कोई अन्त नहीं है उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

107. ॐ **धर्मवतांवराय नमः** – जो धर्म का आचरण करने वालों में श्रेष्ठ हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

108. ॐ **श्री गुरुमूर्तये नमः** – जो सद्गुरु के रूप में विद्यमान हैं उन सद्गुरु को मेरा नमस्कार।

●●●

सत्य की उपेक्षा कभी मत करो। सत्य का पालन करोगे तो वह तुम्हारी रक्षा करेगा।

– श्री स्वामी मुक्तेश्वरानन्द जी महाराज

ॐ

महामुनि वसिष्ठ पुनः अपनी गुफा में

(1008 श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज की जीवनी की एक झलक)

(1879-1961)

-स्वामी रघुवीर - आनन्दपुरी

यत्पादपङ्कजपरागपराश्रयाणां
प्रत्यूहपूरमपनेतुमिह प्रवृत्तः।
तं तारिताश्रितजनं पुरुषोत्तमाख्यं
वन्दे वसिष्ठ इति लोकवचःप्रसिद्धम्।।

(अर्थः- जिन्होंने अपने चरणकमलों के रज को ही परम आश्रय मानने वाले भक्तों की विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए ही प्रवृत्तिरत रहकर इस संसार से उन सबको तारा है, तथा लोक-वाणी के अनुसार 'वसिष्ठ' नाम से प्रसिद्धि पायी है, उन श्री पुरुषोत्तम महाराज की मैं वन्दना करता हूँ।)

जन्म व शैशवम्

केरल प्रांत के मध्य-त्रावनकोर में छोटे से नगर 'तिरुवल्ला' में 'कुषियिल परमपिल' नाम से प्रसिद्ध घर में श्री नारायण नायर एवं श्रीमती पार्वती अम्मा के पुत्र रत्न के रूप में 23 नवम्बर सन् 1879 दिन रविवार को जन्मे शिशु का नाम रखा गया था 'नीलकण्ठन'। नीलकण्ठ अपनी पाँच वर्ष की आयु से ही विद्याध्ययन में अपनी तीव्र बुद्धि का परिचय कराते हुए अपने अध्यापकों की प्रशंसा एवं पुरस्कार के साथ मैट्रिक (उस समय की दसवीं कक्षा) तक पहुँच गये थे। अब नीलकण्ठ के जीवन में नया मोड़ प्रारम्भ हुआ।

श्री गुरु महाराज जी का जन्म स्थान

कौमारम्

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है- ''हे उद्धव, मैं जब किसी को अपनाना चाहता हूँ तब प्रथमतः उसकी सांसारिक सुख-सुविधाओं को छीन लेता हूँ; और जब किसी को दूर रखना चाहता हूँ तो उसे खिलौनों (सांसारिक सुख-सुविधाओं) से भर देता हूँ।'' लोग चाहे जैसा भी मानें, वस्तु-स्थिति ऐसी ही है।

नीलकंठ, भक्त नीलकण्ठ, भक्त, स्वामी पुरुषोत्तमानन्द, स्वामी जी, महाराज जी इत्यादि नाम से जाने जाते रहे व्यक्ति ही यहाँ चर्चा के विषय हैं। उद्धव को दिये गये उपदेश के अनुसार ही नीलकण्ठ की लौकिक सुख-सुविधाएँ-यहाँ तक कि माता-पिता सहित खुद का स्वस्थ जीवन भी, कौमार अवस्था के अन्त तक छीन लिया गया था। इस बीच एक वर्ष तक वे शय्यावलम्बी भी रह चुके थे। इस कालावधि में समय का लाभ उठाते हुए नीलकण्ठ ने शैय्या में पड़े-पड़े श्रीमद्भागवत मूलग्रन्थ का स्वाध्याय एवं संस्कृत भाषा का ज्ञान विकसित किया, जिससे यह समझने में नीलकण्ठ को देर नहीं लगी कि भगवान उन्हें अपनाना चाहते हैं। अतएव समय रहते ही नीलकण्ठ ने अपने को अध्यात्म जीवन की धारा में जोड़ने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

यौवनम्

साध्य की प्राप्ति साधन सापेक्ष है। भगवत-प्राप्ति का मुख्य साधन तत्त्वज्ञान ही है। मुख्य साधन के सहयोगी साधन अनेक हो सकते हैं। यथा किसी स्थान विशेष तक पहुँचने का मुख्य साधन गति ही है किन्तु गति में पैदल से लेकर हवाई जहाज तक अनेक साधन हैं। भगवतप्राप्ति में भी मुख्य साधन तत्त्वज्ञान के सहयोगी साधन अनेक होते हैं। यथा कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, इत्यादि। गति में सहयोगी साईकिल से लेकर हवाई जहाज तक के

साधनों को चलाना सीख कर तैयारी करना आवश्यक है, तथा कर्मयोग से लेकर ज्ञानयोग तक के अनुष्ठान के लिए भी तीर्थाटन-दान-पुण्य-शम-दम इत्यादि के अभ्यास अनिवार्य हैं। गति में सहयोगी साधनों में से पैदल यथा निरापद है, तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में भक्तियोग सुगम और निरापद है। यही भक्तियोग नीलकण्ठ को जन्मसिद्ध था ही। अतएव रुग्ण अवस्था में अभ्यस्त श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण भगवान के प्रति नीलकण्ठ के अन्तःकरण में भक्ति भाव स्वयं प्रस्फुटित हुआ। इसकी वृद्धि एवं पोषण हेतु नीलकण्ठ ने श्रीमद्भागवत का नित्य पाठ, प्रवचन एवं चिन्तन को अपनी दिनचर्या बना ली। यह साधना-क्रम समीपस्थ 'श्रीवल्लभ' मन्दिर में तथा आमन्त्रित होने पर अन्यत्र भी चलता रहा।

प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करने के लिए गुरु ही सहायक होते हैं। भगवत-प्राप्ति के क्षेत्र के विषय में तो गुरु की सहायता परम आवश्यक है। अतएव भक्त नीलकण्ठ के अंदर भी गुरु की तलाश जग गई। संयोगवश स्थानीय 'श्रीरामकृष्ण संघ सत्संग मण्डल' की ओर से नीलकण्ठ भक्त को आमन्त्रित किया गया कि वे अपने श्रीमद्भागवत के प्रवचन से संघ के सदस्यों को अनुगृहीत करें। यही आमन्त्रण भक्त नीलकण्ठ को 'संघ' से जुड़ने एवं परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य श्री स्वामी निर्मलानन्द जी महाराज, तत्कालीन (प्रथम) संघाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज एवं श्रीमत्स्वामी शिवानन्द जी महाराज से क्रमशः शिक्षा, मंत्र दीक्षा एवं संन्यास दीक्षा प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। इस कालावधि में भक्त नीलकण्ठ के उद्यम से तिरुवल्ला (केरल) में श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम की स्थापना हुई। भक्त नीलकण्ठ अपने शिक्षा गुरु श्री निर्मलानन्द जी महाराज के आज्ञानुसार समय-समय पर केरल के अन्य आश्रमों की देखभाल भी करते रहे। इस दौरान संघाध्यक्ष श्रीमत्स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के केरल पधारने पर नीलकण्ठ भक्त को मन्त्रदीक्षा महाराज से प्राप्त हुई। भक्त स्वयं कहते हैं-"मैं धन्य से भी धन्य हुआ।" सदा ब्रह्मस्वरूप में स्थित महाराज की आध्यात्मिक आभा भक्त को जितना निकट खींचती थी उतनी ही कृपावृष्टि महाराज से भक्त पाते रहे। ब्रह्मानन्द जी महाराज के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् तत्कालीन द्वितीय प्रेसीडेंट-श्रीमत्स्वामी शिवानन्द जी महाराज से संन्यास दीक्षा प्राप्त कर भक्त नीलकण्ठ 'स्वामी पुरुषोत्तमानन्द' नाम से

विख्यात हुए। इस काल में भी स्वामी जी अपने सहजसिद्ध भक्तियोग के साथ कर्मयोग का भी अनुष्ठान बेलूरमठ (कलकत्ता) में एवं केरल में उसकी कतिपय शाखाओं में भी करते रहे।

प्रौढ़म

ऊपर बताये गये के अनुसार स्वामी जी के द्वारा अपनी युवावस्था में 'रामकृष्ण मिशन' से जुड़कर बीस वर्ष से अधिक काल अनुष्ठित कर्म-भक्ति योगों का सुफल सामने प्रकट होने लगा। सीढ़ी पर चढ़ना हो तो नीची सीढ़ी पर से पैर उठाकर ऊपर की सीढ़ी में रखना अनिवार्य प्रक्रिया है। इस क्रम के अनुसार स्वामी जी को कर्म-भक्ति योगों से ऊपर ध्यान योग में आरूढ़ होने की इच्छा प्रबल हो उठी। सच्चे साधकों को अनुकूल परिस्थिति प्रदान करना प्रकृति (विद्या माया) का स्वभाव ही है। तदनुसार एक शुभ दिन आया कि स्वामी जी ने तपश्चर्या के उद्देश्य से रामकृष्ण मिशन छोड़कर ऋषिकेश के लिए प्रस्थान कर दिया।

॥ ऋषिकेश ॥

ऋषिकेश में गंगाजी के पार स्वर्गाश्रम में बनी एक कुटीर में आसन जमा कर वे सस्वरूप-चिन्तन, रूप ध्यान में जी जान से जुट गये। शिवानन्द आश्रम-दिव्य जीवन संघ-योग वेदान्त अकादमी,

शिवानन्द नगर, ऋषिकेश के संस्थापक श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती जी महाराज एवं 'हिमालयन सिंह' के नाम से प्रसिद्ध विद्वद्वरेण्य श्री स्वामी तपोवन जी महाराज दोनों उन दिनों में स्वर्गाश्रम में ही तपोरत थे। अपने स्वामी जी की इन दोनों महापुरुषों से भेंट एवं निर्धारित समय पर संत्संग-लाभ भी यहीं से प्रारम्भ हुआ था। साधना में ये तीनों ''अहमहमिकया'' (मैं आगे, मैं आगे इस प्रतिद्वन्द्ववृत्ति) से जी जान से आगे बढ़ते रहे।

इसी क्रम में अपने स्वामी जी एक दिन अपनी कुटिया के पीछे के घोर वन में मध्यान्ह काल में स्वस्वरूपानुसन्धान-ध्यान में पूर्णतया मग्न हो, बाह्य चेतना से शून्य होकर बैठे थे। अकस्मात् स्वामी जी के अन्दर ही अन्दर एक अनुभूति ने प्रस्फुटित होकर उन्हें बाह्य चेतना से जोड़ दिया। वह अनुभूति थी - सर्ववेदान्तसार संग्रह अथवा यों कहें कि जीवन का सार-सर्वस्व, लक्ष्य **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् यह सब (जीव सहित समस्त प्रपंच) ब्रह्म स्वरूप है। माटी से बना घड़ा, पुर्वा, सकोरा, कुल्हड़, हण्डी, कुण्डी इत्यादि सब माटी ही है। यह यथार्थ समझ है। ध्यान रखें-घड़ा माटी है, किंतु माटी घड़ा नहीं है। घड़े को कल्पित नाम-रूप वाला समझना सही समझ है, न कि स्वतन्त्र वस्तु समझना। इसी प्रकार माटी को घड़ा समझना भी सही समझ नहीं है। यही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है।

इतना ही सब कुछ नहीं है, स्वामी जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं-'अहो, परम कृपालु भगवान की अहैतुकी कृपा मुझ पर हुई कि अध्यात्मिक साधकों की श्रेणी में अब मेरा भी नामांकन हुआ है' क्योंकि अभी इस अनुभूति में दृढ़ता-स्थिति नहीं आई है। प्रश्न उठ सकता है कि भक्त को भगवान ने अपने श्रीकृष्ण रूप में दर्शन न देकर **'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'** यह ज्ञान कैसे दे दिया ? उत्तर श्रीमद् भगवदगीता में मिलता है-**''ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'' ''तेषामज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थः'' ''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः''** इत्यादि अर्थात् मेरे अनन्य भक्तों को उसी ज्ञानयोग से मैं अनुगृहीत करता हूँ जिससे वे मेरे यथार्थ स्वरूप को जानकर स्वयं उसमें प्रतिष्ठित होवें। उन अनन्य भक्तों के अन्दर अज्ञान से जन्य भेदभाव को मैं उनमें आत्मरूप से स्थित होकर नष्ट करता हूँ। भ्रान्ति-ज्ञान से यथार्थ-ज्ञान ढका हुआ है, इस कारण से समस्त जीव भ्रमित हैं-इत्यादि।

प्रथम बार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की अनुभूति होने पर स्वामी जी आश्चर्य और आनन्द से अभिभूत अवश्य हुए थे, परन्तु वे इस अनुभूति में प्रतिष्ठित होने के लिए व्याकुल थे। एतदर्थ वर्तमान परिश्रम एवं एकान्तता को अपर्याप्त समझते हुए पूर्वश्रुत वसिष्ठ गुफा को अपनी तपश्चर्या के लिए उपयोगी जानकर एक सुदिन वसिष्ठ गुफा को ही अपना स्थाई निवास एवं तपःस्थली बनाने के लिए चल दिये, मानो महामुनि वसिष्ठ जी को अपने इस नवीन शरीर में रहते हुए अपने पूर्व निवास स्थान की स्मृति अभी ही हो आई हो।

वसिष्ठ गुहा

पुण्य सलिला गंगा माता के तट पर, हिंसक जानवरों से मण्डित एवं गगन-चुम्बी शिखरों से युक्त पर्वतों से चारों ओर से घिरी हुई वसिष्ठगुहा, जहाँ सर्प बिच्छुओं के अतिरिक्त कोई साथी अथवा पाँच कि0मी0 के अन्दर (उस काल में) कोई ग्राम भी नहीं था वहाँ स्थाई निवास एवं तपश्चर्या के उद्देश्य से आये स्वामी जी की कुल साधन-सामग्री, मात्र एक कम्बल ही था, क्योंकि स्वामी जी को भगवद्गीता के इस मंत्र में अटल विश्वास था कि **''तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।''** अर्थात्-अभेद रूप से मुझमें नित्य जुड़े हुए उन अनन्य भक्तों के योग और क्षेम (अभाव की पूर्ति एवं प्राप्त की रक्षा दोनों) का दायित्व मैं वहन करता हूँ। जय भगवान। इस विषय से सम्बन्धित स्वामी जी के उपदेश हैं-''जीव की अपनी आवश्यकताएँ हैं तथा कुछ आशाएँ भी। इनमें से आवश्यकताओं की पूर्ति भगवान स्वयं करते हैं जबकि आशाओं की पूर्ति के लिए जीव स्वयं ही जिम्मेदार है। अतः गृहस्थ को चाहिए कि अपनी आशाओं को नियन्त्रित रखे तथा साधक अपनी आवश्यकताओं को नियन्त्रित रखे ताकि व्यक्ति चैन से रह सके। दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली इसके विपरीत 'आशावादी' बनने की प्रेरणा देती है जिसके परिणामस्वरूप सुख-शान्ति कोसों दूर भाग गई।''

रामकृष्ण मिशन में शाखा-संचालक के रूप जीवनोपयोगी सुख-सुविधाओं के अभ्यस्त स्वामी जी को यहाँ पर कल-कल निनादिनी गंगा माता एवं भक्तवत्सल भगवान का अनुग्रह ही एक मात्र सहारा था। ''स्वामी जी की सिद्धान्त-निष्ठा यह थी कि परिस्थिति समूह के लिए बनती है, व्यक्ति विशेष के

लिए नहीं। अतः व्यक्ति को चाहिए कि परिस्थिति के अनुसार अपने को व्यवस्थित करे और कर्म सिद्धान्त पर विश्वास दृढ़ बनावे।'' स्वामी जी महाराज अनेक बार कहा करते थे–**''नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः–''** निर्बल व्यक्ति इस आत्मा को नहीं पा सकता। (उपनिषद)

हमारे स्वामी जी इन कठिन परिस्थितियों की परवाह न करते हुए दृढ़ निश्चय के साथ 'करो या मरो' की शैली में स्वात्मानुसंधान द्वारा लम्बी लम्बी समाधि के अभ्यास में लगे रहे। इस प्रकार स्वामी जी श्रमसाध्य समाधि के सहज होने तक निरन्तर अभ्यास करते रहे। इस दौरान एक प्रत्यक्षदर्शी का कहना था कि उसने स्वामी जी महाराज को पन्द्रह दिन तक लगातार समाधि में स्थित पाया है। ऐसी अवस्था में चमत्कार–सिद्धियाँ प्रकट होना स्वाभाविक है, जिनमें आकृष्ट कर व्यक्ति को बहिर्मुख बनाकर छोड़ना–माया की कलाएँ हैं। स्वामी जी महाराज इस रहस्य के जानकार होने से इन सिद्धियों के कीचड़ में न फँस कर आगे चलकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हुए। **''वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः–''** भगवद्गीता। अर्थात् सब कुछ परमात्मा का ही स्वरूप है– ऐसा जानने वाला, अति विरल है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**– उपनिषद्। अर्थात् परमात्मा उसी को मिलता है, जिसे वे चुन लेते हैं। इस अवस्था का वर्णन महाराज ने अपनी कृति 'ज्ञान कुम्भि' (प्रज्ञा गीत) में भी किया हैः– 'पुरुष' पर सद्गुरु की कृपा की वर्षा ''निर्मल आनन्द, सौम्यता एवं शान्ति रूप से हुई है।''

अब महाराज के अन्दर एक परिवर्तन का आंदोलन चला। प्रथमतः अपने अन्दर उमड़ते आह्लाद को आप दबा नहीं पाते थे। अतएव उसे योग्य पात्रों में वितरित करने के उद्देश्य से आपने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में भ्रमण किया एवं कुछ सुपात्रों को मन्त्र दीक्षा द्वारा पवित्र कर अपने में उमड़ते सुख–शान्ति को शिष्यों में स्थापित किया। यह क्रम परवर्ती काल में भी होता रहा। प्रथम भ्रमण से निवृत्त होकर वसिष्ठ गुहा आने पर अपने पूर्व क्रम के विरुद्ध जाने के लिए अनुमति दे देते थे, जबकि पूर्व अवस्था में गुहा में रहने की अनुमति किसी को भी नहीं मिलती थी। चूँकि इस समय आपके पास सुख–शान्ति का अक्षय भण्डार था और वे उसे यथेष्ठ बाँटने का निश्चय कर चुके थे। यह सत्त्व गुण की वृद्धि का लक्षण है। सत्त्वगुणी व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं। एक द्रव चित्त एवं दूसरा दृढ़ चित्त। जिसका चित्त भगवान एवं महापुरुषों की लीला आदि के श्रवण मात्र से ही द्रवित होकर गद्गद् मन से अश्रुपात आदि करता है, वह द्रव चित्त है। उनके लिए भक्तिमार्ग सहज एवं सुगम है। दूसरा जो कि आसमान टूटकर सिर पर गिरने पर भी विचलित नहीं होता वह दृढ़ चित्त है। उनके लिए ज्ञान मार्ग सहज एवं सुगम है। अपने महाराज जी प्रारम्भ से भक्त–श्रेणी में थे ही। द्रवचित्त के व्यक्ति द्वारा अक्षय भण्डार को खुला छोड़ना ही पड़ता है। अतएव इस अवसर का लाभ उठाते हुए कतिपय सद्गृहस्थ एवं विरक्तगण महाराज श्री के कृपापात्र बन चुके थे।

वार्धक्य

उपर्युक्त रीति से महाराज द्वारा अक्षय भण्डार लुटाते रहने पर भी भण्डार में वृद्धि ही वृद्धि देखकर महाराज ने निःसरण का नया मार्ग भी खोल दिया–वसिष्ठगुहा से 500 मीटर उत्तर दिशा में एक विद्यालय, एक औषधालय एवं एक डाकखाना जो आजकल के विकास क्रम में कॉलेज एवं अस्पताल के रूप में परिणत हो गये हैं। अब तक महाराज श्री शरीर भाव से उठकर अनाद्यनन्त आनन्दमूर्ति ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे तथापि शिष्यगणों का मानना था कि सन् 1955 में महाराज अपनी आयु के 76 वर्ष पार कर चुके हैं। अब तक महाराज श्री स्वयं ही श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की जयन्ती मनाते थे तो इधर शिष्य वृन्द महाराजश्री का जन्म वार्षिक मनाने लगे जो जन्म नक्षत्र के (उत्तर भाद्रपद) मार्गशीर्ष अनुसार नवम्बर अथवा दिसम्बर के मध्य में पड़ता है।

अब तक महाराज श्री के विरक्त शिष्य गण 25 से अधिक हो चुके थे जिनमें से एक दर्जन वसिष्ठ गुहा में ही रहते थे। अतएव वसिष्ठ गुहा ने एक आश्रम का रूप धारण कर लिया। एक स्वस्थ युवा के सदृश उत्साह एवं सदाबहार आह्लाद से भरपूर महाराज जी के शरीर की उपस्थिति मात्र से आश्रमोचित सब कार्य स्वचालित यंत्रवत चलते रहे। आश्रम में आने वाला कोई भी व्यक्ति कभी भी खाली हाथ नहीं लौटता था। अध्यात्म–संचय के योग्य न हो तो भौतिक ही सही, तृप्त होकर ही जाया करते थे। इस संदर्भ में महाराज श्री कहा करते थे– 'भाई, यह भगवान का भण्डार घर है, यहाँ कभी किसी चीज की कमी नहीं होगी' कैसी दृढ़ प्रतिज्ञा। जय भगवान।

*बायें से दायें – सर्वश्री बलदेव, सुबल बाबू, स्वामी भूमानन्द, कृष्ण ब्रह्मचारी, गुरुमहाराज, स्वामी सेवानन्द, स्वामी बालानन्द, स्वामी सत्यानन्द तथा स्वामी गोपेशानन्द

आश्रम में पूजा, पाठ, आरती, सत्संग इत्यादि कार्यक्रम सायं-प्रातः नियमित रूप से चलते रहते थे। सत्संग में ज्ञान मार्ग की प्रधानता थी तथा भक्ति आदि मार्ग का विषय गौण रहता था। आप अपने अनुभव के आधार पर, भक्ति व ज्ञान का अपूर्व समन्वय सरल रूप से प्रतिपादित करते थे, जबकि पुस्तक-ज्ञानी यह कहकर किनारे हो जाते हैं कि भक्ति का विषय द्वैत है, ज्ञान का विषय अद्वैत है; दोनों एक साथ नहीं रह सकते। वस्तुतः द्वैत से प्रारम्भ होकर भक्ति, भजन, सेवन, तादात्म्य-इस अर्थक्रम से आगे बढ़ने पर अद्वैत में ही पर्यवसित होती है। महाराज श्री अपने विरक्त शिष्यों को अपने-अपने स्तर के अनुसार भिन्न-भिन्न साधना में नियुक्त करते थे। सत्संग के अवसर पर सगुण साकार भक्ति के विषय में तन्मय होकर प्रवचन करते थे, मगर उपसंहार में यह कहने से कि 'सब माया है' कभी नहीं चूकते थे। इस प्रकार आश्रमोचित सर्व कार्य बिना किसी नियमावली, शासन या साईन बोर्ड आदि के ही नियमित एवं सुचारु रूप से चलते रहते थे। परन्तु महाराजश्री इन सबको बारीकी से जानते हुए भी ऐसे दिखते थे कि वे इन सबसे अनभिज्ञ हैं। चुम्बक के सम्मुख लोहे के टुकड़ों के नाचते रहने पर भी चुम्बक में कोई भी विकार नहीं होता। इसी प्रकार उस महाशक्ति की उपस्थिति में सब कुछ सुव्यवस्थित चलता रहा। एक दिन महाराज श्री के एक अनन्य भक्त ने, आश्रम की भविष्य-व्यवस्था की दृष्टि से एक सुझाव प्रस्तुत किया कि- 'महाराज, आश्रम के व्यवस्थित भविष्य के लिए एक ट्रस्ट बना दिया जाय तो अच्छा रहेगा।' जवाब था- ''ओह! यहाँ किसी ने भी कोई आश्रम स्थापित नहीं किया; वह जैसे स्वतः खड़ा हो गया वैसे ही चलता भी रहेगा।'' महाराज श्री का आश्रम के प्रति इतना ही लगाव था।

महाराज जी स्वयं में एक सबक, एक सन्देश

महाराज श्री का सशरीर दर्शन, सामीप्य एवं कृपा-पात्रता को प्राप्त किये सभी लोग उत्तरोत्तर धन्य हैं ही; उन्हें मेरा भी हार्दिक अभिवादन। जिन सज्जनों को ऐसा सुयोग प्राप्त नहीं है उनके लिए ही निम्न रेखाचित्र है:- महाराज श्री की मुख्यतया दो स्थितियाँ थीं (1) निश्चेष्ट (2) सचेष्ट। निश्चेष्ट स्थिति में आँखें चाहे खुली रहें या बन्द, वे अपने स्वरूप मात्र केवल बोध ही हैं। अज्ञान की भाषा में उसे समाधि कहते हैं। इस स्थिति में इन्द्रियाँ मन में लीन एवं मन आत्मा में लीन (निरुद्ध) रहता है। जब भी आप

*स्वामी सत्यानन्द जी के अतिरिक्त सभी महाराज जी के शिष्य हैं।

अकेले होते झट से इसी स्थिति में पहुँच जाते इसलिए कि वह ही आपका घर था। जब कभी कोई व्यक्ति सामने उपस्थित हो तथा प्रारब्ध शेष के बल से मन बाहर आ जाता, तो परिमित शब्दों से वे कुछ बता भी देते थे। यही आपकी सचेष्ट अवस्था थी। फिर, तुरन्त ही अपनी निश्चेष्ट अवस्था आ जाती थी। एक अन्य प्रश्न के उत्तर में इस अवस्था के विषय में वे स्वयं बताते भी थे–प्रश्न था–'महाराज, दो साल के बच्चे भी आपसे अधिक खुराक लेते हैं, इतनी कम खुराक से आपके हम लोगों से भी अधिक हृष्ट–पुष्ट, स्वस्थ व प्रसन्न दिखने का क्या रहस्य है?' उत्तर –'सदा व्यस्त तुम लोगों का मन अपनी चेष्टाओं के लिए ऊर्जा शरीर से खींच ले जाता है। घटती ऊर्जा के सभी कारण के लिए शरीर अन्न को खींचता है। मेरा मन तभी कुछ काम करता है जब तुम लोग कुछ प्रश्न करते हो। अन्यथा वह निश्चेष्ट–स्वस्थ है।' जब भी वे सचेष्ट की स्थिति में रहते, हँसना–मुस्कुराना ही उस स्थिति की पहचान रहती थी। पहले ही हम देख–पढ़ चुके हैं कि वे आनन्द के सागर थे, और वही अपने आप ही तरंगे बनकर तीर स्थल को भी अपने से अभिषेचित करते रहते थे। आपके उमड़ते आह्लाद से प्रस्फुटित हँसी का लेश मात्र ही उपस्थित लोगों को आनन्द से भर देने के लिए पर्याप्त था। यह निश्चित है कि महाराज श्री के इस निःशब्द एवं सहज हँसी के साथ जो चित्र दर्शकों के मन में अंकित हुआ वह कभी भी मिटने वाला नहीं है।

अब दयालुता का चित्रांकन देखें– एक दिन आश्रम की गोमाता ने किसी के खेत में घुसकर फसल चर ली। वैसे तो पहले भी ऐसा हुआ करता था तब महाराज जी उन्हें नुकसान की भरपाई कर देते थे। एक बार एक खेती वाले किसान ने चरवाहे बालक को बेहोश होने तक पीट डाला। खबर मिलने पर बालक को ऋषिकेश अस्पताल ले जाने की आज्ञा हुई। ले जाने वाले शिष्य ने कहा–'पुलिस में रिपोर्ट भी कर दूँगा' इस पर महाराज श्री ने उनसे पूछा–'क्या, एक की हालत देखने से संतोष न होकर दूसरे की हालत भी देखना है?' शिष्य क्या उत्तर दे सकता था। बात यहीं समाप्त नहीं हुई। दैवयोग से उसी शाम नरेन्द्रनगर से पुलिस विभाग के दो–तीन वरिष्ठ अधिकारी 10–15 पुलिस कर्मियों के साथ दर्शनार्थ आश्रम आये। छत पर वे महाराज जी के साथ बातें करने लगे तो शिष्य लोगों ने इस मौके को ईश्वर प्रदत्त माना और उन्हें उक्त घटना से अवगत कराने के लिए एक शिष्य के भीड़ में पहुँचते ही महाराजश्री ने उसे अपने पास बैठने का संकेत दिया। अन्तर्यामी जो ठहरे! शिष्य स्तब्ध रह गया। कुछ समय बाद एक दूसरा शिष्य वहाँ पहुँच गया, उसको भी महाराज ने अपने पास बैठा लिया। महाराज को परिस्थिति सम्भालते देखकर शेष शिष्य साहस नहीं कर पाये। अन्त में पुलिस की गाड़ी रवाना होने के बाद ही, पास बैठे शिष्यों को उठकर जाने की अनुमति मिली। ऐसी घटनाएँ अनेक हैं, कितना लिखूँ।

अब निर्ममता की सूचक एक **घटना–** आश्रम के दैनिक खर्च की सामग्री एक माह के लिए एक साथ खरीद कर लाने पर उस व्यक्ति से एक शिष्य ने बिल पूछा। प्रथम व्यक्ति का उत्तर था–'सब मिलाकर डेढ़ हजार रुपये लगे, बिल–विल नहीं लाया।' द्वितीय ने इस पर नाराज होकर अपनी टिप्पणी सहित महाराज से शिकायत की। महाराज का उत्तर था–'तुम भी चाहते हो तो ऐसा कर लेना; भाई अपने कर्मों का फल अपने ही साथ रहेगा न।'

एक **विलक्षण घटना–** महापुरुष अपने वत्सलों को सतर्कता सिखाने के स्वाँग भी रचते हैं। उपर्युक्त घटना के विपरीत :– महाराज श्री के अति वत्सलशिष्य (जो अब नहीं हैं) एक सन्ध्याकाल में महाराज की उपस्थिति में माचिस से लालटेन सुलगा रहे थे। तेज हवा के चलने से तीन काड़ियाँ बुझती गईं। श्रीमुख से शब्द निकला–'भाई नमक खाया व्यक्ति ही प्यास के प्रभाव को जान सकता है।'

इसके विपरीत एक घटना– एक अधेड़ शिष्य की श्रद्धा की परीक्षाः– एक सन्ध्या को शिष्य से पूछते हैं–'हे! तुम ऋषिकेश से एक टैक्सी बुलाकर प्रातःकाल 6 बजे यहाँ ला सकते हो? ''हाँ महाराज जी।'' 'जाओ।' एक लाठी और एक टार्च की सहायता से पैदल ही 22 किमी. दूरी को जिसमें जंगली जानवरों के अतिरिक्त कोई जीव मिल भी नहीं सकता, अकेले ही तय कर वह टैक्सी लेकर प्रातः 6 बजे उपस्थित हुए। महाराज जी ने कहा–''ओह, आज नहीं जाना है, टैक्सी वापस भेज दो।'' टैक्सी का किराया तो देना ही था।

महाराज श्री का हृदय, शिशुओं के हृदय से भी अधिक कोमल पाकर भी उपर्युक्त प्रकार के व्यवहार को देखते हुए कुछ शिष्य अकेले महाराज जी से मिलने में भी डरते थे। एक दिन एक शिष्य (जो वर्षों

से यहाँ आते रहे) ने, महाराज जी से मिलने के लिए मुझसे साथ चलने के लिए कहा। कारण पूछने पर उनका उत्तर था कि वह अकेले आकर मिलने में डरता है। महाराज जी स्वयं भी कहते थे– 'तापस व तापक इन दोनों के पास जाने में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी।'

इस प्रकार करुणावतार, सर्वथा निर्भय, सहज, सागर से गम्भीर, खिलौनों से खेलते शिशु सम, शत्रु संहार के लिए उद्यम सेनानायक सदृश अपनी लीलाओं के साथ स्वस्थ युवा की स्फूर्ति से युक्त महाराज श्री अपनी आयु के 82 वर्षों तक शिष्यों के उद्धार के लिए सचेष्ट रहे। इतनी आयु की अवस्था में भी उस शरीर की अवाच्य स्फूर्ति के रहस्य के विषय में पूछने पर आपने उत्तर के रूप में एक श्लोक ही कहा–

"अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्।
जीवनं वृष्यमायुष्यं लोकत्रयरसायनम्"

अर्थात् हम उस नितान्त निर्मल ब्रह्मचर्य, जो जीवन कहलाता है, ओजप्रद है, दीर्घायुःप्रदान करने वाला है एवं तीनों लोकों में रसायन स्वरूप है का अनुमोदन करते हैं। गृहीओं के लिए ऋतुकाल में पत्नी–सहवास को शास्त्र सम्मत ब्रह्मचर्य माना गया है; जब कि विरक्तों के लिए स्त्री–दर्शन, चिंतन आदि आठों प्रकार की निवृत्ति ही निर्मल ब्रह्मचर्य है। आपने अपने उपदेश एवं प्रवचनों में चार बातों पर ज़ोर दिया: (1) सत्यता (मन, वाणी व क्रियाओं में एकरूपता)। (2) ब्रह्मचर्य (3) सदा सर्वथा भगवान पर निर्भर रहना (4) माया की प्रबलता। इसे इस प्रकार समझाते थे– "जब कभी मन में यह विचार आया कि मैंने माया को जीत लिया, उसी क्षण स्वयं को माया के बीच समुद्र में पड़ा पाओगे।"

उपर्युक्त रीति से लोकोपकारी आपका शरीर सन् 1961 तक चलता रहा। आपकी महासमाधि के काल आदि के सम्बन्ध में, उसी दौरान एक शिष्य के द्वारा रचित एक श्लोक निम्न प्रकार है:–

नगविधुसुषिपक्षैः संमिते विक्रमाब्दे
शशिदिनशिवरात्रेः सप्तमे सन्मुहूर्ते।
परिगतजनवृन्दं सान्त्वयन् सूपदेशैः
परमपदमवाप्नोदुत्तमः पूरुषोऽयम्।।

अर्थः– नग=पर्वत= (7) विधु = चन्द्र = (1), सुषि = आकाश = (0), पक्ष = शुक्ल व कृष्ण पक्ष = (2) 7102 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार 2017, इन अंकों से, सम्मिते = गिने गये, विक्रमाब्दे = विक्रम संवत में, शशिदिनशिवरात्रेः = सोमवार–महाशिवरात्रि के, सप्तमें = सन्मुहर्ते = सातवें शुभमूहूर्त में; (मुहूर्त = 24 मिनट) रात्रि के सातवें महूर्त = लगभग ग्यारह बजे, अयं उत्तमः पुरुषः = यही पुरुषोत्तम महाराज, परिगतजनवृन्दं = समीप घेरे हुए बैठे शिष्य समुदाय को, सूपदेशैः सान्त्वयन् = सदुपदेशों से सान्तवना देते हुए, परमपदं अवाप्नोत् = परमपद (अपने निजस्वरूप ब्रह्म) को प्राप्त हुए।

अब महाराज श्री की संक्षिप्त जीवनी को 'एक श्लोकी पुरुषोत्तमचरित' नाम से आपके एक शिष्य द्वारा रचित एवं 108वें जन्मोत्सव पर प्रकाशित पत्रिका में प्रसिद्धीकृत एक श्लोक के द्वारा इस लेख का उपसंहार कर रहा हूँ।

आदौ ते भगवत्कथाभिरमणं श्रीवल्लभाराधनं
पश्चान्निर्मलदेशिकोपगमनं बेलूर्मठासेवनम्।
संन्यासग्रहणं तपांसि चरणं ब्रह्मात्मसंवेदनं
शिष्यानुग्रहणं गुहाधिवसनं लीलामृतं पातु नः।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

●●●

भगवान की महिमा का विचार करो। उसने तो अनुग्रह सब पर किये हैं और निरन्तर करता ही रहता है उस पर यदि न दोगे तो क्या उसको एक क्षण के लिए भी भूल सकोगे?

★

भगवान एकमात्र सत्य है, अन्य सब मिथ्या ही मिथ्या है सब कुछ एक मात्र भगवान पर ही निर्भर है। इसलिए भगवान से प्रेम करने का प्रयास करो।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

।। ज्ञान कुम्मी ।।

पद्यानुवाद - प्रज्ञागीत

- स्वामी रघुवीर आनन्दपुरी

(महाराज श्री द्वारा अपने केरल के भक्तों के निमित्त मलयालम् भाषा में रचित ''ज्ञानकुम्मी'' का डॉ. मोहन बाण्डे द्वारा अनूदित एवं प्रकाशित 'वसिष्ठ गुहा के संत' नामक ग्रन्थ में, अनुवाद-संकलन हुआ है। तथापि प्रस्तुत अनुवाद इस उद्देश्य से किया गया है कि महाराज श्री के द्वारा चुना गया छन्द एवं क, का, कि, की इस वर्णमाला-क्रम के साथ यथासम्भव महाराज श्री के द्वारा प्रयुक्त शब्दों का भी प्रयोग हो, ताकि मूल रचना का कुछ न कुछ सादृश्य प्राप्त हो। इस का मूल पाठ राग-ताल सहित श्री स्वामी निर्वेदानन्द जी द्वारा कैसेट में अंकित किया गया है जो वसिष्ठ गुहा आश्रम मे उपलब्ध है; तथा इस अनुवाद को अनुवादक द्वारा भी कैसेट में अंकित किया गया है जो डॉ. गंगा महेश (हरिद्वार) के पास उपलब्ध है। पाठकों से निवेदन है- मलयालम भाषा के शब्दों से वर्णमाला-क्रम से रचित पद्यों के अनुवाद में भी वर्णमाला-क्रम को रखने की कठिनाई से, चौथे व पाँचवे पद्यों के प्रथम शब्दों की टिप्पणी अपेक्षित है; सो निम्न प्रकार है।

पद्य 4, शब्द 'कीर-गति' टिप्पणी रस्सी में पिरोये गये बाँसुरी के टुकड़े में कीर (तोता) जब आकर बैठता है, बाँसुरी के घूम जाने से तोता नीचे सिर करके लटक जाता है एवं घबड़ाता है। अतएव बाँसुरी को पंजों से जोर से पकड़ता है। इसी प्रकार देह को आत्मा समझने वाले लोग घबड़ाते हुए शरीर को ही दृढ़ बनाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। (पद्य 5, शब्द 'कुंजनों के' = टिप्पणी : देहाती भाषा में अबोध शिशु को 'कुंजन' कहते हैं।)

कल्याणमूर्ति नीलाम्बुद श्याम के
संतापहारी चरित्र के ही
चिंतनमात्र से सद्गति पाने को
जी क्यों चुराते हो मानव तुम-सभी
क्यों शर्माते हो मानव तुम।।1।।

काल खोये बिना, क्षीरनिधिसुता-
मानस चोर उस राधेश का,
आपाद मस्तक ध्यान सदा कर
मान मोहादि मिटावें सभी-निज
मान मोहादि.....।।2।।

किल्बिष-संतति नाशक है यह
सिद्ध जड़ी; गुरुपाद सेवा
श्रद्धालु हो करें, चित्त शुद्धि मिले
हाथ लगे भक्ति मुक्ति दोनों-शीघ्र
हाथ.....।।3।।

कीर गति सम देहात्मबोध में
मग्न होकर सत्य भूल गयो
मूढ़ सभी जन जन्म-मरणादि
दुःख पाते अहो बारम्बार-नित्य
दुःख..... ।।4 ।।

कुंजनों के सम मानस शुद्धि औ
होवें असंगत्व बुद्धि दोनों
झाड़ गिरा सके संसार भार को
झट से, तुम सभी ध्यान देवें-इसे
सच ही तुम सभी जान लेवें ।।5 ।।

कूप मण्डूक समान जीवन छोड़
व्यापी गगनाभ जीवन हो
क्या तो कहें, मन आयास हीन ही
कैसा निरन्तर-आनन्द पाता-सदा
कैसा..... ।।6 ।।

कृष्ण लीला-रूप दोनों सदा याद कर
हमें कृष्ण ही हो जाना है
मानस तृष्णा-विकल होय संसार
विष्णुमय हमें भासेगा ही-जग
विष्णुमय..... ।।7 ।।

केवल भक्ति ही साधन, पाने का
केशव श्री चरणाम्बुज को
आशा दृढ़ बने श्री चरणाब्ज में
स्वीय महिमा तब जानोगे ही-निज
महात्म्य सीमा तुम पाओगे ही।।8 ।।

कैतव-हीन पुजारी जनों के ही
योग औ क्षेम निर्वाहकर्ता
कंसनिषूदन, सारथी पार्थ के
संन्निकटस्थ है जानों सदा-अति
सन्निकटस्थ..... ।।9 ।।

कोटि युगे-युगे संचित पुण्यों का
सत्फल है यह मर्त्य-जन्म
खोज करें गुरुपादारविन्द की
ज्ञानामृत वहाँ पावे सदा-सुख
ज्ञानामृत..... ।।1 0 ।।

कौतुक-बुद्धि प्रतिदिन चित्त में
सत्यबोधार्थ विवृद्ध होवे
चित्तमुकुर में सिद्ध होवे यह
ब्रह्म ही सत्य है, शेष मिथ्या-सदा
ब्रह्म ही सत्य जगत्स्वप्न है ।।1 1 ।।

कंपनहीन स्थिति पावोगे, घोर
भूकम्प हो यदि सर्वत्र भी
तत्त्वमस्यादि महावाक्य तत्त्वों का
चित्त में धारण होवे जभी-नित्य
चित्त ..... ।।1 2 ।।

कष्ट हा कष्ट ही - काल बहुतेरे
चित्तभ्रम से भटकता रहा।
सद्गुरु की कृपा पायी पुरुष ने
निर्मलानन्द समाधि-रूपा-नित्य
निर्मलानन्द जो शान्ति.सौख्यम..।।1 3 ।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

●●●

जो नाव बँधी हुई है, उसमें बैठकर क्या तुम कहीं पहुँच सकते हो? थोड़ा जाने आकर फिर वहीं वापस आ जाओगे। ऐसे ही नाव, पुत्रादि से बँधे हुए भगवत् प्रीति की कोशिश करोगे तो क्या सफलता मिलेगी? थोड़ा जाने आ रहे हो ऐसा प्रतीत होगा, परन्तु तुम शीघ्र देखोगे कि तुम वहाँ के वहीं हो।

— श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

गुरु महाराज जी की ज्ञान कुम्मी का सरल हिन्दी भावानुवाद

- स्वामी चैतन्यानन्द

1. मेघ-श्याम वर्ण वाले कल्याण-मूर्ति सन्ताप नाशक (ईश्वर) के सद्चरित् का चिन्तन करते-करते सद्गति को प्राप्त करने में तुम सुस्त क्यों हो जाते हो।

2. समय को व्यर्थ नष्ट किये बिना क्षीर सागर में वास करने वाली माता जी (महालक्ष्मी) के मन का हरण करने वाले जो राधेश हैं उनका आपद मस्तक (नख से शिर तक) निरन्तर ध्यान करते हुए मान-मोहादि दोषों को छोड़ दो। शीघ्र ही मान-मोहादि दोषों को छोड़ दो।

3. सब क्लेशों को दूर करने की एक ही औषधि है, वह है-महत्पाद सेवा (महापुरुषों की सेवा)। यह श्रद्धा सहित करने से चित्त-शुद्ध हो जायेगा। शुद्ध भक्ति और मुक्ति दोनों मिल जायेगी।

4. गुरु महराज कहते हैं बच्चों के समान मन-शुद्ध हो और बुद्धि निःसंग हो जाये तो व्यक्ति संसार को लात मार सकता है। यह बात तुम लोगों को जल्द ही जाननी चाहिए।

5. कूप-मंडूक जीवन को त्याग कर आकाश जैसा विशाल हृदय होना चाहिए तभी मन को पूर्ण सुख मिलेगा। बिना प्रयास के हमेशा के लिए आनन्द मिल जायेगा।

6. कृष्ण का रूप और लीलाओं का निरन्तर स्मरण करते-करते कृष्ण ही हो जाना चाहिए, तब तृष्णाओं का सर्वनाश हो जायेगा और सब विष्णुमय हो जायेगा और सब ब्रह्ममय हो जायेगा।

7. हे क्लेशों का नाश करने वाले, हे नारायण, हे हरे, हे मोक्षप्रद, हे मधुसूदन, इत्यादि नामों का जो भक्ति से जप करेंगे, वे परमसुख की ओर आगे बढ़ते जायेंगे और अनन्त आनन्द की ओर बढ़ते जायेंगे, यह सत्य है।

8. गुरु महाराज जी कहते हैं कि केवल भक्ति से ही केशव का पाद पद्म मिल सकेगा। आशाओं का जो ईश्वर है उनमें सब आशा रखकर अपनी महिमा में पहुँचो। शीघ्र ही स्वमहिमा में पहुँचो। शीघ्र ही स्वमहिमा में पहुँचो।

9. जो कपट छोड़कर भजन करता है उनका योग और क्षेम पूर्ति करने के वास्ते जो कंस का वध करने वाले हैं, पार्थसारथी हैं, वे सदैव पास ही बैठे हैं। वे सदैव पास ही बैठे हैं।

10. कोटि युगों का पुण्य-संचय ही मनुष्य का जन्म है। सद्गुरु के चरण कमलों को खोजो और सौभाग्यरूपी ज्ञानामृत को प्राप्त करो।

11. आत्म स्वरूप को प्राप्त करने का उत्साह प्रतिदिन बढ़ाते-बढ़ाते अन्तःकरण में प्रकाश प्रकट हो जायेगा और ब्रह्म-सत्यं जगत-मिथ्या भाव हो जायेगा।

12. घोर भूचाल में भी स्थिर भावना मिल जायेगी। तत्त्वमस्यादि जो श्रुतियों की वाणी है उस तत्व का अवलोकन करके जो उनका ध्यान करते हैं वे घोर भूकम्प में भी विचलित नहीं होते।

13. कितने कष्ट की बात है, कितने समय से चित्त भ्रम में बैठा रहा, जब श्रीगुरुकृपा पुरुष को मिल जाती है तो पुरुष को **निर्मल-आनन्द** शान्ति और सुख स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

●●●

- ॐ -

महासमाधि

- स्वामी चैतन्यानन्द

महाप्रयाण की भूमिका

यह सन् 1961 की बात है। उतरते जाड़े की ऋतु थी लेकिन वर्षा के कारण जनवरी के अन्तिम सप्ताह से ठण्ड बढ़ गई थी। मेरे विचार से उस दिन फरवरी 1961 की पहली तारीख थी। भयानक वर्षा हो रही थी और ओले पड़ रहे थे। दस बजे दिन का समय रहा होगा पूज्य श्री गुरु महाराज जी ने अनन्त कृष्ण जी से कहा कि 'आत्मचैतन्य को फुरसत हो जाय तो मेरे पास आ जाय।'

उस समय तक मैंने स्नान नहीं किया था। मैंने उसी वारिद जल और हिमफलों से स्नान किया फिर गुरु महाराज जी के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। गुरु महाराज ने मुझसे पूछा कि 'क्या, जाने की तैयारी है?' महाराज जी के इस वाक्य में बड़ा रहस्य छिपा हुआ था। मैं कुछ समय तक चुप रहा लेकिन उनके फिर कहने पर मेरे मन की जो बात थी मैंने उसे कह दिया। वे हमेशा के लिए जाने की बात कह रहे थे। गुरु महाराज और लोगों को बुलाकर भी यही बात पूछते थे। मुझे एक सिद्ध महात्मा द्वारा बतायी गयी यह बात पहले से ही ज्ञात थी कि गुरु महाराज अपनी इच्छा के अनुसार ही अपनी काया का परित्याग कर सकते हैं।

गोपेशानन्द जी पर कृपा

बात में बातचीत का विषय बदल गया लेकिन इसमें कुछ सन्देह नहीं कि गुरु-गमन की यही पहली भूमिका थी। इस तरह तीन चार दिन और बीत गये। 7 फरवरी की रात को मैं, गोपेशानन्द जी और अनन्त कृष्ण जी साथ-साथ थे। अनन्त कृष्ण जी सो चुके थे मैं गोपेशानन्द जी को योगवशिष्ठ विशेषांक पढ़कर सुनाता रहा। जब रात के नौ बज गए और ठण्डक काफी बढ़ गई तो हम लोग भी सर्दी में कम्बल डालकर लेट गये थे। अभी आँख लगी भी नहीं थी कि एक आवाज आयी। उधर देखा तो गोपेशानन्द स्वामी जी उठ बैठे थे। देखते ही देखते वे एकाएक गिर गये, उनका श्वास अवरुद्ध हो गया और आँखें खुली रहीं। अनन्त कृष्ण जी भी इस बीच उठकर आ गये। हम लोग पीठ में मालिश करते रहे, किसी तरह उनकी साँस लौटी लेकिन साथ ही साथ खून की उल्टी भी शुरु हो गयी। हम लोग उन्हें गुफा के बाहर लाए और छाते के सहारे उन्हें बिठलाया। उस समय उन्हें उल्टी और टट्टी दोनों होने लगीं। सब खून ही खून था। अब वे लेट भी नहीं सकते थे। इसी दशा में जब रात के ग्यारह बज गए तो हम लोगों ने सेवानन्द स्वामी जी से जिज्ञासा की कि 'क्या गुरु महाराज जी से कह दिया जाय' इस समय गुरु महाराज समाधि के रूप में सोए हुए थे। निकट जाने पर महाराज जी ने पूछा 'कौन है' मैंने सब बातें कह दीं तब उन्होंने कहा 'यह विभूति ले जाओ उसको दे दो और कह देना कि हमने दिया है।'

हम विभूति लेकर आए थे कि गुरु महाराज ने ताली बजाकर हमें बुलाया और कहा कि 'हम भी आ रहे हैं।' इसके बाद महाराज जी नीचे आ गये और कुर्सी पर बैठ गये। हम लोगों से चूल्हे की राख मंगवायी। जब हम लोग राख लेकर आये तो सबसे कहा 'दूर जाओ।' गुरु महाराज ने गोपेशानन्द जी से उनके पूरे शरीर में राख लगवा दी। फिर स्वयं हाथ पकड़ कर जप करते रहे। गुरु महाराज जी की गद्दी के नीचे से एक कम्बल लेकर उन पर डाल दिया गया। बस एकाएक गोपेशानन्द जी को बिल्कुल आराम हो गया और जब वे चैन के साथ सो गये तो गुरु महाराज भी अपने कमरे में चले गये। तीन बजे के लगभग गोपेशानन्द जी ने जब पानी माँगा तो मैंने कहा कि 'आप तो ठीक हो गये लेकिन अब गुरु महाराज को क्या होगा यह पता नहीं।' बाद में, पानी दे दिया।

देह त्याग का उपक्रम

सात तारीख की रात नौ बजे गुरु महाराज ने

कालबेल दबायी जिसकी आवाज सुनकर स्वामी मनीषानन्द जी (मनोरंजन) भागकर पहुँचे। महाराज जी ने बड़ियारा पानी माँगा। उस समय गुरु महाराज के गिलास, कटोरी आदि गुफा में थे। उन्होंने वापस आकर मुझसे कहा कि महाराज जी बड़ियारा पानी माँग रहे हैं। मैंने उनसे पूछा, ''क्या आप ले जायेंगे?'' वे खुशी से पानी लेकर गये तो महाराज जी ने 'क्या? क्या?' शब्द कहे एवं उनका हाथ पकड़ कर गुफा के पास आए। फिर स्वामी सेवानन्द जी से पूछा। अब तक हम सभी लोग उनके पास आ गये थे। मुझसे कहा ''दूर्वा और गंगाजल लाओ मैं शरीर छोड़ने जा रहा हूँ।'' मैं बड़े बेमन से दूर्वा लाने को तैयार हुआ क्योंकि गुरु महाराज शरीर छोड़ने को तैयार थे। मुझे ये अच्छी तरह मालूम था कि वे अपनी इच्छा के अनुसार ही अपना शरीर छोड़ेंगे। साथ ही उन्होंने ये भी कहा कि जो रजाई ओढ़े हुए हैं उसमें ही उनका शरीर गंगा जी को सौंपा जाये। अनन्त कृष्ण जी से उन्होंने कागज और पेन माँगा। मैंने महाराज जी के कमरे से गंगाजल लाकर दे दिया जिसे उन्होंने दो तीन चम्मच पिया मुझसे विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ करने के लिए कहा। मैंने अभी बीस श्लोक ही पढ़े थे कि मुझे रोककर कहा, 'सो जाओ।' मैं गुफा में आकर बैठा रहा उस समय गुरु महाराज गद्दी पर बैठे हुए थे। स्वामी सेवानन्द जी नीचे बैठे थे उनके ही द्वारा मुझको फिर बुलवाया। मैं उनके पास जाकर खड़ा हो गया। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर अपने सीने से लगाकर कहा ''विष्णु सहस्त्रनाम का पाठ करो।'' मैंने पूरा विष्णु सहस्त्र नाम पाठ पढ़ा। मुझसे बोले, 'देखा कितना अच्छा हुआ' बाद में, मैं पूरी रात चूल्हे की आग के पास बैठा रहा एवं महाराज जी गद्दी पर बैठे रहे। सुबह प्रतिदिन की भाँति स्नानादि करके वे ध्यान में बैठ गये। उस दिन ठीक रहे। उसी दिन कोई विदेशी महिला एक हफ्ते के लिए आयी थी। नौ तारीख को गुरु महाराज सुबह स्नान करके ध्यान में बैठ गये। कुछ समय बाद मैं गुरु महाराज को देखने के लिये गया तो देखा कि उत्तर की तरफ सिर करके वे लेटे हुए हैं। मुझे देखकर उन्होंने पूछा ''क्या बात है?'' मैंने पूछा, 'क्या अँगीठी में थोड़ा अंगार ले आऊँ?' तो मुझे मना किया। इतने में वह महिला जो वहाँ से जा रही थी, उसको बुलाया। मैं अभी नीचे उतरा ही था कि गुरु महाराज ने कालबेल बजायी और सभी लोग भागकर आ गये। गुरु महाराज किसी का हाथ पकड़ कर नीचे आये और शौच गये। मैंने गुरु महाराज जी से प्रार्थना की कि उस महिला को भेज दिया जाय ताकि उन्हें शौचादि जाने में कोई बाधा न हो। उस महिला ने जाने से मना किया। और बाद में, अनन्त कृष्ण जी के साथ उसे ऊपर बद्रीनाथ मार्ग पर भेजा गया। उस समय लगता था कि गुरु महाराज को कुछ बेचैनी थी क्योंकि वे बार-बार करवटें ले रहे थे। हम लोगों ने एक आदमी को ऋषिकेश भेजकर डॉ0 माथुर को बुलवाया। उन्होंने आकर गुरु महाराज को देखा और कैप्सूल वगैरह दिया। डाक्टर साहब को छोड़ने के लिये अनन्तकृष्ण जी ऊपर गये। महाराज जी से आग्रह किया गया कि वे दवाई खायें लेकिन उन्होंने मना कर दिया। अधिक कहने पर बोले, 'क्या उलट देने के लिए ही दवाई मुँह में डालें?' उसी समय महाराज जी ने गोली उल्टी से निकाल दी। अब फिर जल्दी ही डाक्टर को बुलाया गया। उन्होंने आकर कोरामिन दिया और कहा कोई बात नहीं, ठीक हो जायेगा। ऐसा कहकर वे चले गये। श्री प्रतापनारायण जी को गुरु महाराज जी ने तार भेजा था। वे 10 तारीख को आ गये। उनसे कुछ बातें कीं। आने के बाद श्री प्रताप नारायण जी दो डाक्टरों को ले आये। पहले दिन गुरु महाराज

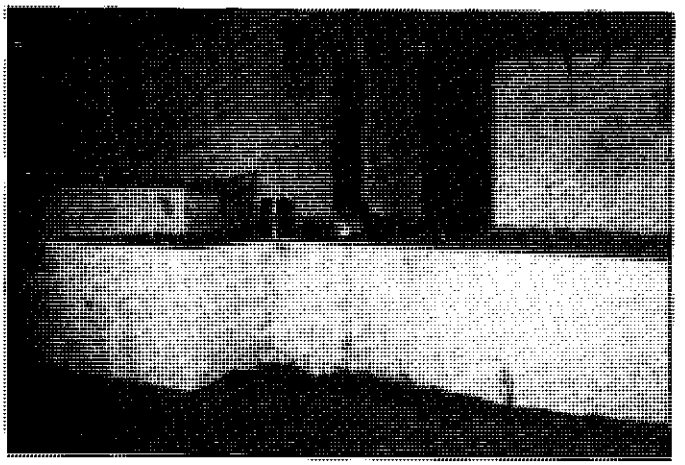

श्री गुरु महाराज जी का समाधि स्थल

ने डॉ. बुलाने को मना कर दिया था। इसके अलावा किसी से बीमारी की बात कहने के लिए भी मना कर दिया था। 10 तारीख की शाम कई बातें मुझसे कीं जो केवल अनुभव गम्य हैं और उनमें से कुछ बातें पहले से ही उद्धृत हैं। मैंने गुरु महाराज से कहा कि कृष्ण ब्रह्मचारी शिवरात्रि में आयेंगे और सुना है कि वे आप से संन्यास लेने हेतु आ रहे हैं। आप कृपा करके उन्हें संन्यास न दें क्योंकि ठण्डक बहुत पड़ रही है और आपका शरीर ठीक नहीं है।

वे बोले ''कौन दे रहा है ?, उनको यहाँ से जाना नहीं चाहिए था।'' इसी बीच कृष्ण ब्रह्मचारी वहाँ आ गये। गुरु महाराज ने मुझसे कहा ''जो हमने कहा है कह दो'' हमने कहा गुरुमहाराज ने अभी-अभी कहा है कि आपको यहाँ से जाना नहीं चाहिए था। फिर ये भी बताया कि गुरु महाराज का शरीर ठीक नहीं है। गुरु महाराज ने उनसे पूछा ''भोजन हो गया'' उन्होंने जवाब दिया ''अभी नहीं।'' ''तो, जाकर खाना खाओ।''

फिर बातें होती रहीं। एक अमेरिकन स्टीफ़न उन दिनों वहाँ था। उसने कहा हेलीकाप्टर लाकर गुरु महाराज को बाहर कही ले जाऊँगा। मैंने ये बात भी महाराज जी से कही, ''आप चाहें तो जायें।'' जवाब में चारों तरफ देखा और कहा, ''ऐसा भजन का स्थान कहाँ मिलेगा।''

11 तारीख को एकादशी थी उस दिन भी स्नानादि करके बैठ गये थे। उस समय गुरु महाराज के पास कोई न कोई अवश्य रहता था। सुबह 8 बजे सबसे पूछा ''क्या गंगा जी जाकर हाथ पैर धोकर आये हो ?'' सबने कहा ''हाँ।'' महाराज जी ने कहा ''सब पद्मासन (सीधे) में बैठो। आपस में एक दूसरे को छूना नहीं। सब बैठ गये। एक छोटे से कमरे में आठ दस आदमी थे। सेवानन्द स्वामी जी ने कहा ''हम खड़े रहेंगे।'' उनको भी बैठा दिया। उसके बाद गुरु महाराज ने अन्तिम उपदेश दिये। बोलते-बोलते महाराज जी गद्गद् हो उठते थे। उस समय उस कमरे में प्रेम की तरंगे चल रही थीं। सबको पात्र भेद के अनुसार अपना-अपना अनुभव हो रहा था। ऐसा मालूम पड़ता था जैसे सभी लोग छककर अमृत पान कर रहे हैं। हृदय आनन्द से भर गया था। उसके बाद सबको बुलाकर आशीर्वाद दिया। सारा ममत्व वहीं तक सीमित था। जो भी बाँटना था, बाँट दिया। उसके बाद किसी को पहचानते हुए वे प्रतीत नहीं हो रहे थे। 12 तारीख को तीन डाक्टर लाये गये उनको प्रसाद स्वरूप ''स्पिरिचुअल टॉक'' आदि पुस्तकें देकर उनको वापस भेज दिया गया।

महाशिवरात्रि (निर्वाण)

12 या 13 तारीख को कई लोगों को पत्र भेजे थे। 13 तारीख महाशिवरात्रि के दिन गुरु महाराज स्नानादि करके ध्यान के बाद कमरे के बाहर तखत पर बैठ गये। मुझसे पूछा, ''आज क्या बनाओगे ?'' मैंने कहा, ''कुछ नहीं, अगर आप खायेंगे तो बनाऊँगा।'' ''हम खायेंगे'' गुरु महाराज ने ऐसा कहा।

बाद में, गीता का आठवाँ अध्याय एवं दुर्गा सप्तशती का पाठ करने के लिए मुझसे कहा। ग्यारहवें अध्याय के कुछ मन्त्र ही पढ़े थे कि मैं रोने लगा। बाद में गुरु महाराज अपने हाथों में किताब लेकर बैठे और अध्याय पूरा हुआ।

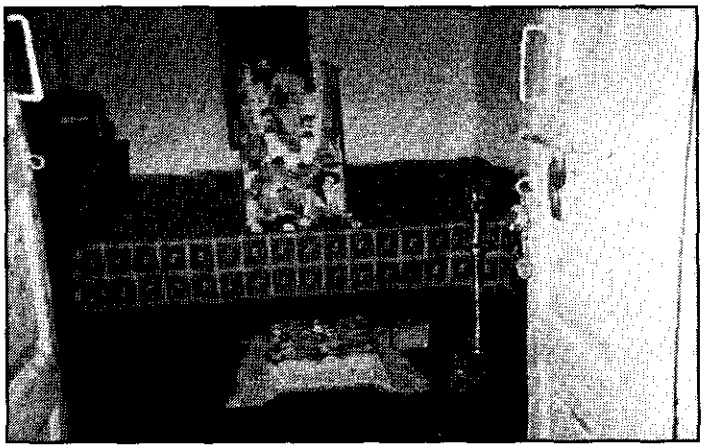

श्री गुरु महाराज जी का समाधि कक्ष

मैं खीर, खिचड़ी आदि गुरु महाराज के पास ले गया। चम्मच लेकर ऊपर डालने को संकेत किया और कहा ले जाओ। कुछ भी नहीं खाया। लगभग शाम को पाँच बजे तक बाहर ही रहे। इतने में बादल आ गए और छीटें पड़ना शुरू हो गईं। हमने छाता उठाया।

गुरु महाराज बोले वर्षा नहीं होगी और कुछ ही समय में सारे बादल छँट गये। गुरु महाराज अपने आप उठकर कमरे में चले गये।

पाँच बजे गुरु महाराज को नींद की एक गोली दी गई तब श्री प्रतापनारायण जी ने कहा अगर नींद न आई तो चार घण्टे बाद एक गोली और देना चाहिये। करीब साढ़े आठ बजे मुझसे कहा, ''तुम दूध लाते हो तो बहुत ही अच्छा लगता है'' मेरी कुछ समझ में नहीं आया। मैंने कहा, ''मैंने नहीं तैयार किया है मनीषानन्द जी ने बनाया है।'' तो गुरु महाराज ने उसी बात को फिर दुहराया। तब कालिकानन्द स्वामी जी ने कहा, तुम्हारे लाने के समय अच्छा लगता है। हमने दूध लेकर एक पाव दूध में हारलिक्स मिलाकर दे दिया। वो करीब तीन छटांक दूध उनका आखिरी दुग्धपान था। उस समय तक नौ बज गय थे। गुरु महाराज से मैंने सोने की एक गोली खाने के लिए कहा तो उन्होंने कहा, ''मैं सो चुका।'' और फिर, मैं कुछ नहीं बोला। गुरु महाराज ने कहा, ''अब हमेशा के लिए सोने जा रहा हूँ। लाओ जल्दी दे दो'' इसके साथ ही मुँह खोला। मैंने नींद की एक गोली मुँह में डाल दी। पानी में दो बूँद कोरामिन डालकर पिला दिया। उसी दिन कहा कि ''कमरे में कोई न रहे हम ठीक हैं। पाँच बजे पानी लेकर आना।'' हम लोग नहीं माने और कुछ लोग वहीं रहे। मेरी बारी पहले थी। कुछ काम के कारण पुरहरानन्द जी को आने में कुछ देर लग गई उनकी जगह पर कालिकानन्द जी मेरे साथ थे। कुछ समय पहले ही सेवानन्द स्वामी जी जाकर सोए थे। कृष्ण ब्रह्मचारी बाहर अँगीठी जलाकर बैठे थे। मैं विष्णु सहस्त्र नाम का जप कर रहा था। कालिकानन्द जी श्री बद्रीनाथ जी का नाम बार-बार लेते थे। इसी बीच रात को 10 बजकर 50 मिनट पर कण्ठगत मृदु प्रणव ध्वनि सुनायी दी। ज्योति ज्योति में लीन हो गयी। मैंने उसी समय कालबेल बजायी। सभी लोग आ गये। मैंने कमरे से बाहर आकर श्री प्रताप नारायण आदि को बुलाया। उसी क्षण भूमिकम्प भी हो गया था। मैं रो रहा था। मुझे लोगों ने बाहर निकाला कि कुछ समय के लिए गुरु महाराज समाधि में हैं। बाद में गीता पाठ होता रहा। रात को ही 18 तार लिखकर सब स्टेट में भेजे गये। मैं उसके बाद बराबर विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ करता रहा। लोगों से कुछ कहने के लिए महाराज जी मना कर गये थे और जिससे कहना था उससे वे पहले ही कह चुके थे। मुकुन्द राम जी, बंगाली माता जी, स्वामी सुभद्रानन्द आदि सबसे एक माह पूर्व ही गुरु महाराज अपनी अन्तिम यात्रा की सूचना दे चुके थे। और फिर, उनका पार्थिव शरीर 14 फरवरी सन् 1961 दिन मंगलवार को सायंकाल लगभग 4 बजे उनकी ही आज्ञा के अनुसार सुरसरिता में प्रवाहित कर दिया गया।

ॐ ॐ ॐ

●●●

सद्गुरु-प्रसाद

- स्वामी बालानन्द

(पुरुषोत्तम-गाथा अथवा सद्गुरु-प्रसाद ग्रन्थ का समर्पण स्वामी बालानन्द जी द्वारा दिनांक 1 अप्रैल, 1949 को वसिष्ठ गुहा में किया गया। इसी पुस्तक के कुछ अंश इस लेख में दिये गये है। लेख में स्वामी जी ने स्वयं को बाल के नाम से सम्बोधित किया है)।

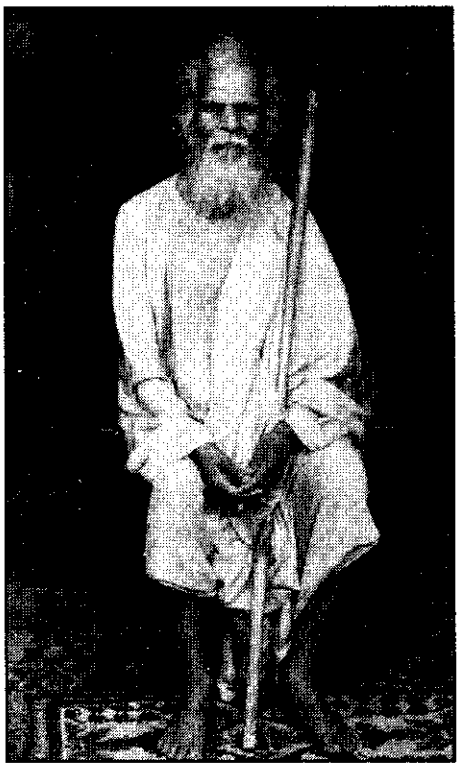

मैं पहले पहले ही गुरु-देव के पास आया था, मेरे साथ एक जिज्ञासु और थे। मेरी अवस्था अति शोचनीय थी। यह दस-वर्ष-पूर्व की बात है उस समय मेरी आयु लगभग पचीस वर्ष की रही होगी। सेतु-बन्ध-रामेश्वर से हरिद्वार तक पथ-प्रदर्शक गुरुदेव की तलाश में यथाशक्ति उद्योग भी किया, परन्तु किसी न किसी प्रतिबन्ध से कहीं भी मन स्थिर न हुआ। गत कुम्भ-मेले में मैं हरिद्वार पहुँचा। वहाँ भी अनेक महापुरुषों से परिचय हुआ मगर चित्त को यथोचित शान्ति प्राप्त नहीं हुई। निराशा से दिल कम्पायमान हुआ करता था। अच्छे-अच्छे भोग पदार्थ भी नीरस और कड़ुवे जँचते। सांसारिक दुखों का मूर्तरूप मुँह बाये सामने खड़ा रहता था। आहार व्यवहार, भाषण, विनोदियों से नितान्त उदासीन था। निर्जन-प्रदेश में अकेले रोते रहना मेरा स्वभाव सा बन गया था। बार-बार मेरी दीनता नयन-जल-रूप से बह जाती थी अनेकों प्रेमी-स्वजनों को त्याग कर ईश्वर-प्राप्ति के लिये किया हुआ यह त्याग मुझे अति संतप्त करने लगा यद्यपि पूर्ण-वैराग्य से दुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु मैं दुविधा के दलदल में फँस सा गया, जिधर देखूँ अन्धेरा ही अन्धेरा दिखता। चलते-चलते भूख-प्यास सहते हुये प्रायेण शरीर व्याधियों और मन आंधियों का घर हो गया। जिस प्रकार कोयला तेल आदि से बिगड़ी गाड़ी का चलना असम्भव हो जाता है उसी प्रकार नीहार रहने से सभी इन्द्रिय दुर्बल होने लगीं तथा शरीर रक्षा का भार पहाड़ सा मालूम होने लगा। निवास स्थान की समस्या तथा योग क्षेम की चिन्ता सदा लगी रहती। हरिद्वार के इस विशाल मेले का प्रभाव मेरे शांत व हीन हृदय पर न हो सका। एक-एक दिन युगवत् होकर मानो मेरी परीक्षा ले रहा था। वह दशा वर्णनीय न होकर केवल अनुभव से जानी जा सकती है। जिस शान्ति-देवता की खोज में इस दशा को पहुँचा वे भी अब और अधिक दूर छूट गये। रोने के अतिरिक्त और कोई चारा मेरे हाथ न रहा था। मेरी दीन-दशा पर कोई सहानुभूति दिखाता तो कई उपहास भी करते। कोई पढ़ने कोई भ्रमण करने अथवा सेवा करने, काम करने या मंडलियों में शामिल होने का उपदेश करते। परन्तु मैं हाँ या ना कुछ भी निश्चयात्मकरूप से नहीं कहता था। बीच एक दिन एक भाई ने ऋषीकेश चलने की प्रेरणा दी। ठीक दूसरे दिन हम दोनों पैदल ऋषीकेश पहुँच गये और एक तरुवर के नीचे आसन जमाया। परन्तु हृदय-तंत्री दीन-हीन अवस्था को पहुँच चुकी थीं। इस पुराण-प्रसिद्ध तपोभूमि ने भी अभीष्ट शांति न दी। दुःख से दिन निकल जाता था। इसके अनन्तर एक परोपकारी महात्मा हमारे पास आते ही बोले-भाई तुम यहाँ क्यों रहते हो, श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज के पास जाओ। वे एक बहुत अच्छे योग निष्ठ महात्मा हैं, वशिष्ठ-गुफा में रहते है। अस्तु दूसरे दिन हम दोनों गुफा में पहुँचे। रात्रि का आरम्भ समय था, कुछ वन-कुसुमों को लिये हम दोनों श्रीचरणों में नतमस्तक हुये। पिता जी बड़े प्रेम से मिले। भोजन के उपरान्त हमने अपनी अर्जी दे दी वह थोड़ी देर में बोले, "तुम लोग

कल सबेरे खाना खाकर ऋषीकेश को रवाना हो जाओ तथा वहीं रहकर भजन-वन्दन किया करो।'' मेरे मन को बहुत कष्ट सा हो गया। प्रातःकाल एक बार मैंने पुनः अपनी इच्छा प्रकट की, परन्तु स्वामी जी ने अपना निश्चय न बदला। साथी ने कहा भाई भाग्यहीनों पर कौन कृपा करेगा। तब मैं अपने कर्म-दोष को रोया, अपने आपको धिक्कारता रहा, मैंने किसी का खण्डन-मण्डन निरूपण नहीं किया। मैं असावधान था। निराश होकर कहने लगा हे विधाता ! इस प्रकार भाग्य-हीनों की सृष्टि करने से तेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता था। अहो ? महापुरुष की दया भी भाग्य से ही मिलती है। नित्य-प्रति की तरह स्वामी जी स्नानादि से निवृत होकर गुफा का कपाट बंद कर ध्यान मग्न हो गये। मानो कपाट के साथ ही हमारा आशा-द्वार भी बंद हो गया। निराश हो गंगा-किनारे पहुँच स्नान कर एक शिला-खण्ड पर बैठ गया। सामने ही गिरिशिखर पर बाल-भानु ने भी दर्शन दिया। गंगा मैया भी अपने सरस-अलाप से मन्द-मन्द बह रही थीं। उन्होंने भी प्रकट-रूप से मुझे कोई आश्वासन नहीं दिया। नेत्रों से अश्रु बह रहे थे कण्ठ गद्गद हो चला था। निराशा ने भी सुअवसर समझ गंगा मैया की गोद में समा जाने की प्रेरणा दी। तब अत्यन्त वेदना अनुभव करता हुआ गंगा मैया से प्रार्थना करने लगा कि माँ - अशरण की एकमात्र शरण तुम्हीं हो। मैं दीन-हीन किससे अपना दुखड़ा रोऊँ। मेरे सारे अपराधों को क्षमा कर अपनी प्रशान्त-गोद में मुझे भी छिपा लो। मैंने सोचा गंगा में अपना शरीर छोड़ने से पापों का उचित पुरस्कार मिलेगा। अतः अपने अनेक कुकर्मों को स्मरण करते हुये पश्चाताप करने लगा तथा क्षमा मांगने लगा। जीवन यात्रा समाप्त ही होने वाली थी तभी 'स्वामी स्वामी' कहते हुए एक ब्रह्मचारी दौड़ते हुये आ पहुँचे। मैं कुछ परिवर्तित सा हो गया। वे सहसा बोल उठे 'महाराज आपको बुला रहे हैं, आइये' मैं साथ हो लिया। सहृदयता तथा करुणा महायोगियों का एक लक्षण है। दया-मूर्ति प्रत्यक्ष भगवान् गुरु-देव प्रसन्न और वरदायी हो चले थे। दुखियों को यदि परोपकारी महात्मा लोग भी आश्रय न दें तो उनको संसार में और ठिकाना बाकी क्या रह जाता है ? वे प्रेम से मुझे दीक्षा देने लगे और मेरा आशा रवि भी उदयाकाश रंजित करता हुआ उदय होने लगा। इस महान उपकार से उऋण नहीं हो सकता। धन्य है प्रभो ! आपकी अनाथाश्रय-तत्परता को।

इसके अनन्तर उस दिन मैं ऋषिकेश को वापस हो गया तथा श्री गुरु-देव की आज्ञानुसार एक महीने पश्चात् पुनः उनके पास आकर रहने लगा। एक दिन महाराज ने मुझे जंगल से पत्ते लाने की आज्ञा दी। मैं तत्काल ही पत्ते लेने चला गया, परन्तु व्याघ्रादि वन-जन्तुओं का भय मुझे सताने लगा तथा भयभीत सा हुआ मैं इधर-उधर देख रहा था। इतने में क्या देखता हूँ कि थोड़ी दूर ऊपर स्वयं स्वामी जी लाठी लिये हुए टहल रहे हैं। मेरा सारा भय रात्रि की तरह लुप्त हो गया। पत्ते लेकर जब मैं आश्रम में वापस आया तथा आते ही दूसरे ब्रह्मचारी से मैंने पूछा स्वामी जी ऊपर कहाँ गये। उन्होंने कहा स्वामी जी तो अन्दर हैं वे कहीं नहीं गये। तब मैंने अपने मन में सोचा कि महापुरुषों की लीला अत्यद्भुत है, बाल के निर्बल हृदय स्थित भय का निवारण करने के लिये ही वंद्य-बापू ने यह लीला दिखाई। धन्य है भगवन् आपकी आश्रित-परायणता को।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

चतुर्मास का समय था। मैं गंगा की दूसरी गुफा में था कि अचानक अकल्पित जल-प्रलय सा होने लगा। मैं स्वामी जी के पास पहुँचा ही था कि गंगा-माता विराट-रूप धारण करने लगीं, और देखते-देखते चारों ओर जल ही जल दिखाई देने लगा। गुफा के मार्ग बन्द हो गये मेरे सभी समान यथा जल-पात्र, माला, पुस्तक आदि उसी गुफा में रह गये। मेरे लिये वहाँ पहुँचना कल्पनातीत था। मुझे स्वाध्याय आदि नित्य-कर्मों की चिन्ता सताने लगी। पूज्य गुरु-देव मेरे भाव को जानते हुये बोले 'कहो बाल ! आज क्या करोगे ?' मैं निरुत्तर था। तदन्तर मैं किसी सेवा में लग गया। थोड़ी देर में महाराज बाहर गये फिर आकर सारे सामान हँस-हँस कर मुझे देने लगे। समय की भीषणता देखकर हमें एकाएक विश्वास न हुआ। उसमें भी गुरु-देव के वस्त्र पूर्ववत् सूखे हुये थे। यह हम को अभी भी एक समस्या है। धन्य है गुरुवर आपकी लीला को।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

पिछले साल की बात है आश्रम में श्रीमद्भागवत् का सप्ताह परायण हो रहा था। एक दिन सभी शिष्य-गण घास काटना भूल गये। बहुत से लोग थे, सभी आहारादि से निवृत्त होकर भ्रमण करने इधर-उधर निकल गये। मैं ज्वर-ग्रस्त होने से विवश था, विवशता में सेवाकार्य का न होना स्वाभाविक था।

उस समय मैं रोग-शय्या शायी था। स्वामी जी सभी ढंग देखकर किसी को आज्ञा न देते हुये स्वयम् दरांती लेकर घास काटने चल दिये। महापुरुषों का यही नियम बड़ा विचित्र होता है। वे काम कराने वाले तथा करने वाले समयानुसार स्वयम् बनते रहते हैं। अर्जुन भगवान का दास था तब वे अर्जुन के सारथी क्यों बने। स्पष्ट है जैसे भगवान् भक्त-वत्सल होते हैं भक्त भी उसी प्रकार भगद्वत्सल होते हैं यह नियम अटल व प्राकृतिक है। श्री गुरु-देव की भी यही चेष्टा मैंने देखी, तथा मैं भी येन-केन प्रकारेण साथ हो लिया तथा स्वामी जी को वापस करने के लिये अनेकों प्रयत्न तथा प्रार्थनायें की, परन्तु वे तो अत्युत्साह से ऊपर चढ़े चले जा रहे थे। मेरी बात न मानी, बल्कि मुझे ही यूँ कहने लगे कि तुम बीमार हो आराम करो। मैं शीघ्र ही घास लेकर आता हूँ और किसी से कुछ न कहना। परन्तु मैं भी नहीं माना। निदान, हमने मिलजुल कर घास काटी, और मैं घास का गठ्ठा लेकर आश्रम में पहुँचा। जब यह घटना प्रकट हुई तो सभी पश्चाताप् करने लगे तथा लज्जित हुये। धन्य है गोमाता जिसकी सेवा करने को आत्माराम मुनि लोग भी अहोभाग्य समझते हैं।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

गुरु-देव हमें बुद्धिपूर्वक कर्म करने की आज्ञा देते हैं, तथा योग कर्मसु कौशलम्, ऐसे परमार्थ को प्रयोग में लाने की प्रेरणा करते हैं। वे कहा करते हैं कि हमारे गुरुलोग भी इसी प्रकार लोक-कल्याणार्थ कर्म किया करते थे। यदि कृत-कृत्य महापुरुष ही स्वकर्म न करते तो क्या साधक शिष्यगण आलसी न बन जाते? मोहवश मैं भी पहले पहले सेवाकार्य से उदासीन रहता था। आश्रित-वत्सल श्री स्वामी जी चेताया करते कि तुम बड़े परमहंस बन गये तो मुझ जैसे साधारण साधु के पास रहने का तुम्हारा क्या प्रयोजन! हम भी अपने को परमहंस नहीं समझते। ऐसे परमार्थ सम्बन्धी उपदेश सुनने पर मैं भी कभी-कभी दुःख अनुभव करता। कभी उनकी आज्ञा बिना इधर-उधर घूमने चला जाता। परन्तु कुछ देर के वियोग से ही स्वामी जी के दर्शनों की प्रबल इच्छा हो उठती। अतः उनके पास आता रोता-बिलखता। वे तत्क्षण ही सारे अपराध भूल जाते। अति प्रेम से मधुर-वाणी कहते हुये हँस देते।

❖ ❖ ❖ ❖

एक बार ऐसी ही शिक्षा हमारे वन्दनीय स्वामी जी ने हमें दी। गरमी का मौसम था, दोपहर को भोजन करके तथा जूठे बर्तनों को ज्यों का त्यों छोड़कर हम सभी शिष्य-गण सो गये। कुम्भकर्ण की उपासना हम अच्छी जानते थे। स्पष्ट है उपासक उपास्य के अनुरूप हो जाता है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। रावणानुज की मोह-निद्रा ने यदि स्वामी नहीं तो उनका छोटा भाई अवश्य बना दिया। निर्वाण सुख को भी निद्रा-सुख के समक्ष तुच्छ समझने लगे। अति चंचल समय भला हमारे लिये रुकता? सूर्य-देव भी गिरिशिखरों में तिरोहित होने लगे। हमें क्या पता। भला निद्रा-समाधि में कभी विक्षेप हो सकता था। भगवान् 'न चाति स्वप्न-शीलस्य' इति, अर्थात् यथा समय यथोचित कर्म करने से ही योग प्राप्त होता है। परन्तु हमें ऐसे योग से क्या प्रयोजन? फिर भी आपत्ति ही आपत्ति। अस्तु किसी पुण्य विशेष से निद्रा भंग हुई। बाहर आते ही सन्ध्या समय देख अचम्भित हुये। बर्तनों को साफ करने की याद तत्काल ही आयी, वहाँ पहुँचे, क्या देखते हैं शुद्ध साफ बर्तन यथा स्थान रखे हुये हमारे सेवा गौरव का प्रत्यक्ष उपहास कर रहे हैं। आलसी-मन पहले प्रसन्न हुआ, तथा हम एक दूसरे को पूछने लगे भाई तुमने कब यह काम किया। सबने मैं न, मैं न, कहकर उत्तर दिया। तदनन्तर यथार्थ ज्ञान हो गया। फिर, आज स्वयं स्वामी जी से रोये, माफी माँगने लगे, पश्चाताप करने लगे, परन्तु दयानिधि हाव-भाव व्यवहारिक से भी अप्रसन्न प्रतीत न हुये। यह शिक्षा हमारे हृदयपट पर सदा-सदा के लिये अमिट-छाप छोड़ गई। यदि कभी बर्तन लापरवाही-पूर्वक साफ किये होते, तो सबके मौजूद होते भी स्वामी जी किसी से कुछ न कहकर स्वयं साफ करते और तब कहते 'देखो बर्तन कैसे साफ होने चाहिये' कई बार हमारी अवस्था, आलस्य को मुंह-तोड़ जवाब देने के लिये श्री गुरुदेव को गोशाला भी साफ करनी पड़ी। ऐसे कितने ही काम स्वामी जी हमारे परोक्ष में कर देते हैं, जिनका पता हमें बहुत दिन बाद लगता है। परन्तु फिर भी श्री गुरुदेव के स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। विचारवान के लिये गुरु-देव आदर्श-गुण-खान हैं। इसी प्रकार अतिथि सेवा भी गुरु-देव बड़े प्रेम व चाव से करते हैं। इतनी वृद्धावस्था में भी हमारे गुरु-देव अनपेक्ष हो कर्म-तत्पर रहते हैं। तथापि स्वधर्म समझ कर श्रद्धापूर्वक सेवा करना ही सेवकों के लिये कल्याण कारक होता है। स्वामी जी अक्सर कहा करते हैं यद्यपि मेरा कोई भी

धर्म नहीं है तथा ये सारे व्यवहार तुम्हारे लिये ही कर रहा हूँ।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

यह नियम संपन्न हमारे गुरु-देव की आसन सिद्धि असाधारण है। आठ दस घन्टे एक आसन पर स्थित-भाव रहना उनके लिये साधारण बात है। भगवत्-परायण आदि सुअवसरों पर हमने ठोस गुण का उनमें प्रत्यक्ष दर्शन किया। वे यम-नियमों को भी सर्वांग पूर्ण ढंग से जीत चुके हैं। प्राणायाम यम के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। श्री स्वामी जी के मधुर भाषण तथा प्रखरतेज से विदित होता है कि वे अवश्य प्राणायाम जप कर चुके हैं। परन्तु प्राणायाम की साधारण क्रिया को छोड़कर कभी भी स्वामी जी ने हमें हठयोग का आदेश नहीं दिया। उनका विचार है कि अनेक प्रकार की आपत्तियां हठयोग के कारण उठानी पड़ती हैं। प्रत्याहार का अद्भुत प्रभाव उनमें दिखाई दिया। हमारा अनुभव है कि क्षुधा, पिपासा, निद्रा आदि साधारणतया उनको प्रभावित नहीं कर सकती हैं। ये सारे अनुभव हमें साथ रहने वालों को समय समय पर हुआ करते हैं। विस्तार भयवश उनका चित्रण यहाँ नहीं कर सकता। वे स्वयं कर्म कुशल हैं साथ ही निर्लेप भी। महापुरुष कभी अनुद्विग्न नहीं होते हैं। **''यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांचति''** के अनुसार सारे लक्षणों का दर्शन आप हमारे गुरु देव में कर सकेंगे।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

जब बुद्धि सात्विकी हो जाती हैं तब ऐसे सूक्ष्म भावों का बोध होता है। अन्यथा असम्भव है। एक बार नहीं वरन् अनेकों बार वे समत्व परीक्षा में उत्तीर्ण हुये। एक बार छद्म-वेष धारी साधु चोरनारायण उनकी घड़ी, पेन (कलम), पैसा आदि बहुत भौतिक सामान को चुरा ले गया। ज्ञान-रूप धन अपने पास देखते हुए उन्होंने किंचित भी खेद नहीं किया तथा पूर्ववत् प्रसन्न रहे। एक दिन अपने परम पूज्य गुरुदेव की समाधि (मृत्यु) की खबर सुनकर भी गुरुदेव ने तनिक भी मोह नहीं किया। इस बात का साक्षी मैं स्वयं हूँ। ऐसे ही एक बार उनकी परम प्यारी गौ को शेर ने मार दिया, फिर भी गुरुदेव चिन्ताग्रस्त नहीं हुये। उनके विचार से शरीर-त्याग करना कोई मृत्यु नहीं कहलाती। महापुरुषों का रोना, क्रोध करना आदि कर्म केवल नाटकीय होते हैं।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

वसिष्ठाश्रम के पास कोई स्कूल न होने से स्वामी चिन्तित होते। क्यों कि इस इलाके में बहुत दूर तक स्कूलों का नाम तक नहीं है। अतः समीपस्थ सारे ग्रामीण अधिकतर निरक्षर हैं। अतएव श्री स्वामी जी ने एक मिडिल-स्कूल की स्थापना की जिसको लगभग एक साल हो गया है। आज कल श्री गुरु-देव उसी स्कूल की इमारत बनाने का उद्योग कर रहे हैं। यद्यपि मान-प्रतिष्ठा से भी परे पदार्थ को ही वे अधिक महत्व देते हैं तथापि मैं अज्ञान-वश एक दिन बोल उठा कि यदि यह काम पूरा हो जाता तो आप स्वस्थ व निश्चिन्त हो जाते। तब दया-सागर बोले-मैं तो अभी भी स्वस्थ व निश्चिन्त हूँ। धन्य है महापुरुष आपकी दिव्य भावना को। **'हत्वापि स इमान् लोकान् न इन्ति न निवध्यते।'**

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

सत्संग में महाराज कह रहे थे, इसी जन्म में अर्थात् अभी पुरुषार्थ करो, तथा ज्ञान का साक्षात्कार करो नहीं तो कल का नाम काल है। अतः कल के लिये कोई काम शेष मत रखो। प्राणी मुमुक्ष काल का विश्वास न कर सारे संकल्पों का त्याग कर सर्वदा आत्मानुसंधान में ही तत्पर रहे। प्रारब्ध के ऊपर शरीरार्पण करे। हानि-लाभ में समभाव रखे। हमेशा सन्तुष्ट रहे। बाल से श्री स्वामी जी ने पूछा- 'ज्ञान से कर्म का क्या सम्बन्ध है?' तब मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि ज्ञानी का कर्म बन्धन कारण नहीं होता। पुनः श्री स्वामी जी बोले-परम-ज्ञान से कर्म सम्बन्ध नहीं होता। जैसे सूर्य में अन्धेरा नहीं रह सकता, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म का मेल नहीं है। साध्य अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। निर्वाण-समाधि में अखण्ड एक सत्य-वस्तु ही रह सकती है। साक्षात्कार में सहज-भाव से द्वैत-भाव नहीं रहता। वहाँ सच्चिदानन्द से परिपूर्ण आत्माओं में वाणी आदि उपकरणों का प्रवेश नहीं होता।

मंगल सद्गुरो-देव
मंगल पुरुषोत्तम
मंगल गुण-निधे ब्रह्मन्,
ज्ञान-मूर्ते नमोस्तु ते।।

– ओम् शान्तिः

●●●

वसिष्ठ गुहा के योगी*

- स्वामी आत्मानन्द

मार्च का महीना था। मैं साधना करने के उद्देश्य से ऋषिकेश-स्थित स्वर्गाश्रम में निवास कर रहा था। राजयोग के सम्बन्ध में मैंने कई ग्रन्थ पढ़े तो थे, पर उसकी साधना का अवसर प्राप्त नहीं हो सका था। ग्रन्थों में पढ़ा था कि योग्य गुरु की प्रत्यक्ष देख-रेख में ही योग की साधना करनी चाहिए, अन्यथा प्रतिकूल परिणाम की सम्भावना रहती है।

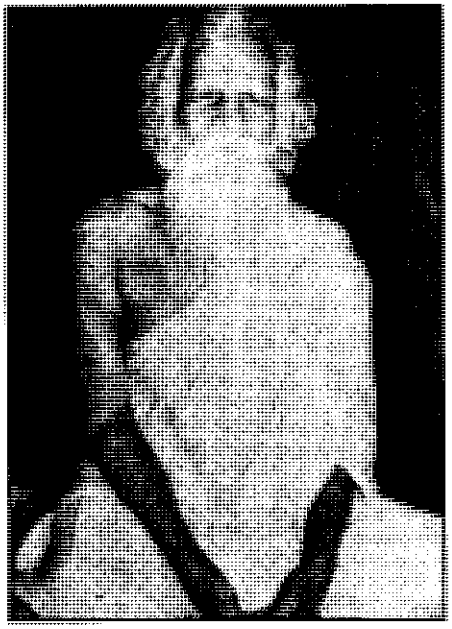

इसलिए प्राणायाम की सरल क्रियाओं को करता हुआ ईश्वर की कृपा की आस लगाये बैठा था कि मुझे मार्गदर्शन मिल जाय। मेरी यही इच्छा मुझे स्वर्गाश्रम की ओर खींच ले गई थी। कई नामधारी महात्माओं से मिला, पर कुछ दिन उनके सान्निध्य में बिताने पर लगता कि यहाँ अभिलाषा पूर्ण न हो सकेगी। मैं कुछ निराश भी हो चला था कि सहसा एक दिन मैंने वसिष्ट गुहा के योगी की बात सुनी। आशाजनक बात थी वह। सुना कि उनका नाम स्वामी पुरुषोत्तमानन्द है और वे लोकैषणा से दूर वसिष्ठ गुहा में रहकर योग-साधना में निमग्न रहा करते हैं।

फिर क्या था, निकल पड़ा। वसिष्ठ गुहा ऋषिकेश से लगभग 15 मील दूर है। देवप्रयाग की ओर जाने वाली पक्की सड़क से जाना पड़ता है। बस वालों से वसिष्ठ गुहा का नाम बता देने पर वे वहीं उतार देते हैं। वहाँ पहाड़ के नीचे उतरना पड़ता है। वह गुहा गंगाजी के किनारे स्थित है। सड़क से थोड़ा आगे जाकर ऊपर की ओर वसिष्ठ गुहा का विद्यालय है और पोस्ट ऑफिस। गुफा से विद्यालय तक की दूरी लगभग 6 फर्लांग पड़ जाती होगी। चारों ओर बियावान जंगल है - जंगली जानवरों से भरपूर। पास में कोई गाँव भी नहीं है।

दोपहर के समय मैं वसिष्ठ गुहा पहुँचा। बड़ी विशाल गुफा है वह। पुराणों में इसका उल्लेख आया है। पुराणों के अनुसार तो गुफा चौदह मील लम्बी थी, पर अभी वह इतनी लम्बी नहीं है। अब तो मुश्किल से चार फर्लांग होगी। किन्तु इसका बहुत-सा हिस्सा नमी के कारण बन्द कर दिया गया है। सामने की चौड़ाई भी उल्लेखनीय है। अब आश्रमवासियों ने गुफा का जो रूप दे दिया है, उसमें अनायास पचास व्यक्ति सो बैठ सकते हैं। गुफा के द्वार में कोई फाटक या दरवाजा नहीं है। आश्रमवासियों से सुना कि स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी प्रायः चालीस वर्ष से वहीं हैं। उस समय गुफा और चारों ओर का दृश्य और भी भयानक था। साँप और बिच्छू तो मैं गया तब भी बहुत थे। चालीस वर्ष पहले का पूछना ही क्या ! स्वामीजी प्रारम्भ में अकेले ही रहे। उनके बारे में आश्रमवासियों से मुझे जो जानकारी प्राप्त हो सकी, वह संक्षेप में इतनी ही है कि उन्होंने दक्षिण भारत के प्रदेशों में कई स्थानों पर श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना की। इन्होंने रामकृष्ण मठ व मिशन के प्रथम अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज से मंत्रदीक्षा ली थी और बाद में मठ के द्वितीय अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी शिवानन्द जी से संन्यास-दीक्षा लेकर वे हिमालय की इस गुफा में साधनामय जीवन बिताने चले आए। उस समय पुरुषोत्तमानन्द जी की आयु लगभग चालीस वर्ष की थी। जिन कठोरताओं में से उनका जीवन बीता है, उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय आज के समान बनी-बनायी सड़क नहीं थी। पैदल

*विवेक ज्योति वर्ष 40 अंक 12 दिसम्बर 2002 पत्रिका से...

का मार्ग था, जो अतीव दुस्तर था और नदी के उस पार से चलता था। यही वह पैदल मार्ग था, जिस पर से उस समय के लोग बद्री-केदार की यात्रा करते थे और आज भी आपको कई ऐसे भावुक एवं तपस्याप्रिय जन मिलेंगे, जो इसी रास्ते से बद्री-केदार की यात्रा करना पसन्द करते हैं।

हिमालय की तराई अजगर, रीछ, वन्य हाथी और तेंदुओं के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी को बहुधा इनका सामना करना पड़ता। जैसा कि कहा जा चुका है, गुफा के द्वार में कोई फाटक तो था नहीं, अतः कई बार ऐसा हुआ कि रात में वर्षा के थपेड़ों से बचने के लिए वन्य पशु भी गुफा के भीतर स्वामी जी के समीप ही जा बैठते। पर ऐसा कभी न हुआ कि वन्य पशुओं ने स्वामी जी को किसी प्रकार की हानि पहुँचायी हो। भिक्षा हेतु भी स्वामी जी को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। जब अनाज चुक जाता, तो वे ऋषिकेश की ओर निकल जाते और एक-डेढ़ महीने के लिए एक साथ भिक्षा ले आते। उन्होंने वहाँ के अपने प्रारम्भिक दिनों में उस अंचल की गरीबी तथा अज्ञानता देखी। उदारचेत्ता इस संन्यासी का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने एक पाठशाला खोल दी, जहाँ समय निकालकर वे पहाड़ी बालकों को शिक्षा दिया करते थे। आज उस पाठशाला ने बड़ा रूप धारण कर लिया है। स्वामीजी ने अब उसे प्रान्तीय शासन को सौंप दिया है।

मैं जब वसिष्ठ गुहा पहुँचा, तब स्वामी जी अस्सी वर्ष के हो चुके थे, अर्थात् वहाँ रहते उन्हें दीर्घ चालीस वर्ष बीत चुके थे। आश्रमवासियों से उपरोक्त जानकारी प्राप्त कर मैं स्वामी जी के दर्शन प्राप्त करने के लिए और अधिक आतुर हो उठा। आश्रमवासियों ने बताया कि लगभग तीन बजे वे अपनी कुटी से इस गुफा में आते हैं और आश्रमवासियों को धर्मशास्त्रों का अध्ययन कराते हैं। लगभग तीन वर्ष पूर्व तक स्वामी जी गुफा में ही निवास करते थे। अपने समीप किसी सेवक या शिष्य को अधिक दिन तक नहीं रखते थे। जो कोई भी साधना की यथार्थ इच्छा लिए उनके पास पहुँचता, उसे वे कुछ काल साथ रखकर साधना के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करते और बाद में उत्तरकाशी-स्थित अपने 'मंगल-आश्रम' में कठोरतर साधना के लिए भेज देते। स्वामी जी एकाकी साधना पर अधिक बल देते थे। तीन वर्षों से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। वृद्ध शरीर कितना सहे। जलवायु के परिवर्तनों से वह आक्रान्त हो जाता था। वैसे भी गुफा में बड़ी नमी थी। स्वामी जी गठिया से ग्रस्त हो गए। भक्तों ने जोर दिया कि उनके लिए अलग पक्की कुटी बना दी जाय, ताकि गठिया अधिक पीड़ा न दे। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर अन्त में वे मान गए। उनके लिए गुफा के सामने ही कुछ ऊँचाई पर एक पक्की कुटी बना दी गई - दो मंजिलों की। नीचे की मंजिल में दो कमरे हैं, जिनमें आगन्तुक दर्शनार्थी जन रहा करते हैं। ऊपर की मंजिल में स्वामी जी का निवास-स्थान रखा गया। अब भक्तों ने प्रार्थना की कि वे कुछ लोगों को अपने पास ही रहने दें, ताकि उनकी देखभाल और सेवा में सुविधा हो सके। उन्होंने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली। तब से आश्रम में पाँच-छह सेवकों का स्थायी निवास होने लगा। स्वामी जी भी अब इन लोगों को शास्त्राध्ययन कराने तथा साधनामय जीवन में प्रवृत्त करने के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगे।

आश्रम के व्यवस्थापक ने पक्की कुटी के नीचे के एक कमरे में मेरी व्यवस्था कर दी। मैं अधीर होकर तीन बजने की प्रतीक्षा करने लगा। अन्त में सौभाग्य की वह घड़ी उपस्थित हुई। स्वामी जी के कमरे के द्वार खुले। देखा, सामान्य कद के एक पुरुष को, जिनकी श्वेत दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। मुखमण्डल पर दैवी आभा और अधरों पर दैवी हास्य। उनकी हर क्रिया थी गीतोक्त यज्ञ-भाव से उद्दीप्त। उनका 'देखना, सुनना, छूना, सूँघना, खाना, चलना, सोना, साँस लेना, बातें करना, छोड़ना, ग्रहण करना - सब कुछ मानो यज्ञमय था।

मैं मूक हो गया। चक्षु निस्पन्द हो गए। उनके गुफा के पास आने तक मैं हाथ जोड़े उनकी ओर टकटकी बाँधे खड़ा रहा। प्रणाम करने पर उन्होंने परिचय पूछा। मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया और उनके पास कुछ दिन रहने की अनुमति माँगी।

'कुछ दिन क्यों?' उन्होंने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कहा, 'यही रह जाओ न? आश्रम का सर्वेसर्वा बनकर? मुझे बस एक मुट्ठी खिला दिया करना!'

मैं तो स्तम्भित रह गया। कहाँ मैं उनके लिए सर्वथा अपरिचित और कहाँ उनकी यह उदारता! उनका स्नेह पाकर मैं अपने को धन्य समझने लगा। ऐसा लगा कि इस व्यक्ति से मेरी चिरपोषित अभिलाषा पूरी हो सकती है।

शास्त्र-पाठ चलने लगा। उस समय योगवसिष्ठ

का पारायण किया जा रहा था। स्वामीजी की व्याख्या अपूर्व थी। वे ज्यादा तो नहीं बोलते थे, पर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में जो भाव उड़ेल देते थे, वह शब्दों से कहीं अधिक मुखर था। यहाँ मुझे उस सत्य की प्रतीति हुई – **गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्**। जो सत्यद्रष्टा ऋषि है, जिसने शास्त्र-मर्म की अनुभूति कर ली है, उसे अपने भाव को व्यक्त करने के लिए सुन्दर वाक्य-विन्यास का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसा व्यक्ति भले ही व्याकरण-सम्मत भाषा न बोले, विविध प्रकार की व्याख्याएँ न प्रस्तुत कर सके, पर वह जो कुछ टूटी-फूटी भाषा में बोलता है, वह सीधा हृदय पर प्रभाव डालता है, क्योंकि उसके शब्दों में उसकी अनुभूति की शक्ति समायी होती है। उस दिन मुझे एक ही घण्टे के सान्निध्य से योगवसिष्ठ के प्रति एक नयी दिशा मिली।

शास्त्र-पाठ समाप्त हुआ। स्वामी जी ने मुझसे दो-चार प्रश्न पूछे और कुछ दिन इसी प्रकार बिताने के लिए कहा। अवसर देखकर मैंने उसी दिन संध्या को उनके समक्ष अपनी चिरकांक्षित अभिलाषा रखी। मैंने बताया कि मैं योग-साधना करना चाहता हूँ और उनका नाम सुनकर आया हूँ। वे हँसकर बोले, 'अफवाहों में क्या हरदम सत्यता होती हैं?' मैं न समझ पाया। यह देखकर उन्होंने कहा, 'यह जो तुम मेरा नाम सुनकर आए हो, तो कैसे विश्वास कर लिया कि मैं सचमुच योग-मार्ग का पथिक हूँ? लोग तो बहुत-सी बातें उड़ा दिया करते है। यह भी उनमें से एक है। मैं तो केवल एक साधक हूँ। दूसरों को सिखाना मेरे बस की बात नहीं है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की वह बात क्या पढ़ी नहीं? वे कहते थे — दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो पानी में तैरते काठ के टुकड़े की नाई होते हैं। यदि एक पक्षी भी उस पर बैठ जाय, तो वह जल में डूब जाता है। दूसरे होते है काठ के डोंगे की तरह, जो स्वयं भी पार उतरते हैं और कई लोगों को भी पार उतार देते हैं। मैं तो पहली किस्म का हूँ – काठ के टुकड़े की तरह। हाँ, यदि यहाँ के वातावरण से लाभ उठाना चाहो, तो सुविधा बहुत है। एकान्त निर्जन स्थान है, ऋषिकेश की हलचल भी यहाँ नहीं है, प्रभु की कृपा से एक समय का भोजन का भी ठिकाना है। जो गुरुमंत्र तुमने पाया है, बस, लग जाओ उसी की साधना में।'

सुनते ही हृदय बैठ गया। मैं आया था योग-साधना की विशेष इच्छा लेकर और यहाँ मन के अनुरूप फिर बात जमती नहीं दिखी। सामान्य कुछ वार्तालाप करके मैं प्रणाम कर उठ गया। नीचे आया। कुछ ही गज की दूरी पर भागीरथी बह रही थी। एक शिलाखण्ड पर अवसन्न मन ले बैठ गया और सोचने लगा कि अब क्या किया जाय। इतने में स्वामी जी के एक प्रमुख शिष्य उस ओर आए। उन्होंने मुझे खिन्न देखकर कारण पूछा। मैंने स्वामी जी से हुई सारी बातें बता दीं। उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा – 'निराश मत होओ! महाराज इसी प्रकार परीक्षा लेते हैं। जो भी यहाँ साधना के लिए आता है, उससे वे इसी प्रकार कहते हैं। बहुत-से लोग तो चले जाते हैं, पर जो उन्हें किसी प्रकार नहीं छोड़ते, उन्हें पकड़े रहते हैं, उन्हें अन्त में वे गूढ़ योग की शिक्षा देते हैं। तुम उनके पीछे लगे रहो। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।'

निराशा के बादल छँट गए। आशा की सुनहरी किरण हृदय में उतरी। मैं वहाँ के परिवेश से अपरिचित था, अतः सब कुछ नया-नया था। धीरे-धीरे रात उतरी। मैं भी अपने कमरे में चला आया। व्यवस्थापक ने हिदायत दे दी थी कि मैं अँधेरे में कहीं न निकलूँ। एक लाठी और लालटेन मेरे कमरे में उन्होंने रखवा दी और मुझे बताया कि बाहर निकलने पर लाठी से धरती को ठोकता हुआ चलूँ और लालटेन साथ रखूँ। लाठी की ठक ठक से सर्प आदि रास्ते से हट जाएँगे और लालटेन साथ रहने से वन्य पशु पास न फटकेंगे।

इस प्रकार घने जंगल के बीच मेरी यह पहली रात्रि थी। वन्य पशुओं की आवाजें उस अनन्त शून्य और निस्तब्ध मौन को भेद रही थीं। मेरा हृदय रह-रहकर डर के मारे काँप रहा था। न जाने कितनी अनचीन्ही ध्वनियाँ मेरे कर्णरन्ध्रों में प्रवेश कर रही थीं – बड़ी डरावनी आवाजें थीं वे। कभी-कभी चीतों और लकड़बग्घों का गुर्राना और गर्जन भी सुनाई पड़ता था। डर के मारे मेरा बुरा हाल था। नींद आ ही नहीं रही थी। यद्यपि मैंने भीतर से दरवाजा अच्छी तरह बन्द कर लिया था, तथापि ऐसा लगता मानो अभी ही कोई वन्य पशु खिड़की से झाँक गया है। इसी बीच मालूम नहीं कब मेरी आँखें झपक गयीं। अचानक एक विचित्र आवाज से मैं जाग उठा। धड़कते हृदय से मैंने खिड़की से देखा कि आखिर आवाज आ कहाँ से रही है। देखता क्या हूँ कि दो भालू गंगा के तीर पर झगड़ रहे हैं। चाँदनी रात थी, इसलिए बाहर सब साफ दिखाई पड़ रहा था। अपनी पिछली दो टाँगों के बल खड़े हो दोनों कुछ देर तक मुक्का-मुक्की सरीखा कुछ करते और लड़कर गंगा

के जल में कूद पड़ते। और पानी से निकल कर फिर लड़ने लगते। पता नहीं, उनका यह क्रम कब तक चला। मैं थोड़ी देर तक भालुओं कां लड़ना देखकर सो गया।

सुबह कुछ देर से उठा। रात्रि की भयावही स्मृतियाँ एक-एक करके स्मृति पटल पर आने लगीं। मैं तो कमरे के भीतर बन्द था, पर आश्रमवासी मानो प्रकृति माता की निश्छल गोद में बिना किसी दरवाजे के पड़े रहते थे। सुबह मैंने व्यवस्थापक स्वामी जी से पूछा, 'आप लोगों को डर नहीं लगता ? मैं तो कल रात बुरी तरह डर गया था।' उन्होंने हँसते हुए कहा, 'इस प्रकार डरने से साधना कैसे होगी ? आप क्या यहाँ रह सकेंगे ?' मैंनें बोला, 'मैदान से आया हूँ। यह पहाड़ पर मेरा प्रथम अवसर है। अतः भय स्वाभाविक है। पर मुझे भी यहाँ रहने का अभ्यास हो जाएगा।'

उस दिन मैंने पुनः स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के समक्ष योग साधना के सम्बन्ध में अपनी प्रार्थना दुहराई। मेरे बारम्बार अनुरोध करने पर, मेरी लगन देखकर वे अन्त में सहमत हो गए। उन्होंने पूछा 'किस गुफा में रहना चाहोगे – डबल सीटेड में या सिंगल सीटेड में ?' मैं उनके कथन का तात्पर्य नहीं समझ सका। तब मुझे बताया गया कि विशाल वशिष्ठ गुफा के अतिरिक्त वहीं सन्निकट ही दो और छोटी गुफायें थी। एक तो बिल्कुल छोटी थी – केवल एक ही व्यक्ति के रहने के लायक थी, बस बैठने और सोने लायक। इसे 'सिंगल सिटेड' कहा जाता था। दूसरी इससे कुछ बड़ी थी। उसमें दो व्यक्ति रह सकते थे, इसलिए उसको 'डबल सिटेड' कहा जाता था। पर दूसरी गुफा की ऊँचाई कुछ अधिक नहीं थी। मनुष्य केवल बैठ सकता था – खड़ा नहीं हो सकता था। मुझे यह भी बताया गया कि जो विशेष साधना की इच्छा लेकर वहाँ आता था, उसे स्वामी जी इन छोटी गुफाओं में रखना पसन्द करते थे। यह सब जानकर, मैंने उत्तर दिया, 'डबल सिटेड में ही रख दे तो कृपा हो।' वे हँसते हुए बोले, 'क्यों, डर लगता है ?' क्या कहता, मौन रह गया। बात दरअसल वही थी। सिर नीचा किये मौन बैठा रहा। तब वे फिर से बोले, पर अब उनकी वाणी में गम्भीरता थी, 'यदि डर लगता था, तो साधना के नाम से यहाँ क्यों आए ? इससे तो यही अच्छा था कि बँगलों और महलों में रहकर साधना कर लेते। लगता है, यहाँ का परिवेश तुम्हारे अनुकूल नहीं हो सकेगा।' तब मेरे बोल फूटे। याचना के स्वर में मैंने कहा, 'महाराज, कृपा करके मुझे मौका दें। पहाड़ और जंगलों में आने का यह मेरा पहला मौका है। आपकी कृपा से कुछ दिन में अभ्यस्त हो जाऊँगा।'

मुझे डबल-सिटेड गुफा में रहने की अनुमति मिल गई। यह गुफा नदी के और भी निकट है। फाटक के नाम पर जर्जर लकड़ी के पटरों से बना दरवाजा है, जो हल्के से धक्के से भी तोड़ा जा सकता है। दूसरी रात मैंने इसी गुफा में बिताई। यह रात तो पहली रात से भी भयानक बीती। ऐसा लगता मानो वन्य पशु अब गुफा के सामने आया, तब आया। इसके बाद की अन्य रात्रियाँ भी मेरे लिए भयपूर्ण रहीं। मेरा भय कम होने के बदले बढ़ता ही जा रहा था। कभी-कभी जंगली जानवर गुफा के सामने तक आ जाते और मेरे हृदय की धड़कन बढ़ जाती। लालटेन और लाठी तो साथ थी, तो भी रात्रि में भय के मारे मैं बाहर निकलने का साहस नहीं कर पाता था। रात में मुझे उठना न पड़े, इसके लिए मैंने एक योजना बना ली। संध्या सात बजे के बाद मैं जल ही नहीं पीता था।

सात-आठ दिन इसी प्रकार बीते होंगे कि स्वामी जी को मेरे भय के बारे में मालूम हो गया। उन्होंने मुझे बुलवाया और व्यवस्थापक को आदेश दिया कि मेरा यत्किंचित सामान ऊपर रास्ते पर पहुँचा दिया जाय और मुझे ऋषिकेश जाने वाली बस में बिठा दिया जाय। बिना किसी भूमिका के अकस्मात उनका निर्णय सुन मैं विकल हो गया। मैंने करुण स्वर में प्रार्थना की, 'स्वामी जी मुझे एक मौका और दे दीजिए।' 'बहुत दिया जा चुका', वे कठोर स्वर में बोले, 'यहाँ आने के पहले ही तुम्हें समझ लेना चाहिए था कि कहाँ जा रहे हो ? यहाँ रहने से तुम्हें कोई लाभ न होगा। तुम्हारा समय तो नष्ट होगा ही और तुम दूसरों का समय भी नष्ट करोगे।' स्वामी जी का निश्चित निर्णय देख मैं रो पड़ा। इन कुछ दिनों में मैंने हृदय में जो आशा सँजो ली थी, वह अचानक टूटकर बिखर गई। मेरा नैराश्य रुदन के रूप में प्रकट होने लगा। स्वामी जी झिड़कते हुए बोले, 'यह क्या रोना लगाया ? रो-रोकर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ नहीं मिला करतीं। **''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः''** – निर्बलों के लिए आत्मा सुदूर है। जिनमें पौरुष है, जो प्राणों की बाजी लगाते भी नहीं हिचकते, उन्हीं पर आत्मा की कृपा होती है। वह ऐसे ही पुरुषसिंहों का वरण करती है – **यमेवैष वृणुते तेन**

लक्ष्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्याम्। तुम लौट जाओ। यहाँ क्यों अपना जीवन बर्बाद करते हो?' मैं रोते हुए उनके चरणों पर गिर पड़ा और याचना के स्वर में बोला, 'महाराज, बस अन्तिम अवसर दे दीजिए। मैं शिकायत की कोई बात अब न आने दूँगा। मुझ पर कृपा कीजिए। केवल एक ही मौका और। बस यही भिक्षा दीजिए।' अपनी विवशता में मैं और भी न जाने क्या क्या कहता रहा।

बादल एक बार फिर से छँट गए। स्वामीजी ने मुझे कुछ दिन और रहने की अनुमति दे दी। संध्या समय उन्होंने मुझे बुलवाया। उनके कमरे में और कोई नहीं था। बड़े ही स्नेहपूर्ण शब्दों में उन्होंने मुझसे पूछा, 'अच्छा, यह तो बताओ, तुम डरते किस बात से हो? मैं कोई उत्तर न दे पाया। समझ में ही नहीं आया कि क्या कहूँ। मुझे मौन देखकर वे बोले, 'आखिर मरने का ही तो डर है, या और कुछ? मैंने सोचकर देखा, 'महाराज ठीक ही तो कहते हैं। मैं मरने से ही तो डरता हूँ। कब वन्य पशु आ आय और मेरा काम तमाम कर दे – यही तो डर है।' प्रकट में कहा, 'आप ठीक कहते हैं, महाराज। मृत्यु का भय ही बाधक बन रहा है।'

'ठीक', स्वामीजी बोले, 'अगर मरने का ही डर है तो तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि तुम्हारे कपाल में जंगली जानवर के हाथों मरना लिखा हो, तो वे दिन में भी तुम्हें मार सकते हैं और यदि उनके हाथों मरना न लिखा हो, तो रात में तुम्हारे पास आकर बैठ जायँ, फिर भी तुम्हारा बाल बाँका न होगा। विधि का विधान मेटा नहीं जा सकता। दिन में जंगल की ओर जाते हो। मृत्यु लिखी रहने से दिन में ही बाघ-भालू तुम्हें समाप्त कर सकते हैं – कोई तुम्हें बचा नहीं सकता। और मृत्यु नहीं लिखी हो, तो कोई तुम्हें रात में जंगल के बीच भी नहीं मार सकता। कहो, क्या कहते हो?'

साधारण-सी बात थी; तर्क बिलकुल सरल था, उसमें कोई अपूर्वता नहीं थी, पर बात एक ऐसे पुरुष के मुख से निकली थी, जिसका जीवन ही अनुभूतिमय था। अतः वह मेरे भीतर पैठ गई। सचमुच कितनी सत्य बात स्वामी जी ने कह दी थी। कितनी सहज! स्वयं से कहने लगा, 'आखिर ऐसी छोटी-सी बात मेरी समझ में क्यों न आयी? सच ही तो है। डरूँ क्यों? भय का कोई कारण नहीं दिखाई देता। डरने से विधि का लिखा नहीं मिट जाता।' स्वामी जी मेरे अन्तर्द्वन्द्व को भाँपकर बोले, 'अब से कुछ दिन इसी तर्क पर ध्यान करो और उसे अपने मन में बिठा लो। देखोगे, भय नाम की कोई चीज न रह जाएगी।'

मैंने तदनुसार ही किया। रात्रि में मुझे बाहर जाना पड़े इसके लिए मैं सोते समय काफी मात्रा में जल पी लेता था। अब बलपूर्वक रात्रि में गुफा के बाहर आने लगा। उस मंत्र का जाप तो चला ही था – निर्भीकता के मंत्र का, कि विधि में न लिखा हो तो कौन मार सकता है। सात-आठ दिन में ही धीरे-धीरे भय की मात्रा कम होती गई। एक दिन हम सभी रात्रि में स्वामी जी के पास बैठे थे। वे अपने अनुभव बता रहे थे। सहसा जंगल को दहला देने वाला गर्जन सुनायी पड़ा। ऐसा लगा जैसे बाघ मील-आधमील पर होगा। उस समय 9.30 बजे थे। इसके बाद कुछ देर तक स्वामी जी जंगली जानवरों के अपने अनुभव बता रहे थे। लगभग सवा दस बजे उन्हें जैसे कुछ स्मरण हो आया। कहने लगे, 'अरे, एक जरूरी काम तो मैं भूल ही गया। विद्यालय के प्रधानाध्यापक को एक बड़ी आवश्यक सूचना देनी थी।' फिर मेरी ओर देखकर बोले, 'जाओ, तुम्हीं पहुँचा आओ। उत्तर लाने की जरूरत नहीं। यदि वे सो गए हों, तो भी उठाकर दे देना।' मेरी तो ऐसी दशा हो गई कि काटो तो खून ही नहीं! यद्यपि निर्भयता का अभ्यास क्रमशः मुझसे सध रहा था, पर अभी आध-पौन घण्टे पूर्व की दहाड़ ने मुझे कम्पित कर दिया था। मुझे ऐसा लगा मानो स्वामी जी मेरी परीक्षा लेने ही मुझे भेज रहे हैं। जो हो, जाना तो था। मैंने सहमे से उत्तर दिया, 'जो आज्ञा।'

'डर तो नहीं लगेगा?' स्वामीजी ने पूछा।

'जी, लगा भी, तो आपकी कृपा से सब ठीक हो जाएगा।'

'हाँ, ठीक है, हो ही आओ,' वे बोले।

स्वामीजी ने कागज़ पर कुछ लिखकर उसे लिफाफे में भरकर मुझे दिया। मैं लालटेन और लाठी लेकर चल पड़ा। पहले बता ही चुका हूँ कि दूरी काफी थी – लगभग छह फर्लांग। बीहड़ जंगल और अँधेरी रात के कारण मानो एक-एक कदम एक-एक कोस के समान बोझिल हो रहा था। फिर, कुछ ही समय पूर्व वह हृदय विदारक गर्जन हुआ था। मेरा क्या हाल था, यह अब लेखनी लिख नहीं पाती। यह तो वही कल्पना कर सकता है, जिस पर ऐसा समय आया हो। हवा में वृक्ष के पत्ते सरसराते और ऐसा लगता

है कि जानवर यहीं दुबका पड़ा है। जुगनू चमकते, तो एक बार डर कौंध जाता कि कहीं वो हिंस्र आँखे तो नहीं हैं ! भगवान के जितने नाम याद थे, सबको एक-एक करके मन ही मन दुहरा रहा था।

ले-देकर विद्यालय पहुँचा। प्रधानाध्यापक सो गए थे। उन्हें जगाया। मुझे इस भयंकर अन्धकारपूर्ण रात्रि में वहाँ देखकर वे भी घबरा गए। कहीं आश्रम में कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया ? 'आप अकेले, और इस समय यहाँ ?' उन्होंने व्यग्रता से पूछा। 'हाँ, स्वामी जी की ऐसी ही आज्ञा थी', मैंने उन्हें पत्र देते हुए संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

'पर यह तो सबेरे भी दिया जा सकता था,' उन्होंने पत्र पढ़ते हुए कहा, 'वैसी कोई इतनी आवश्यक बात तो नहीं दिखती। फिर, कुछ ही देर पहले तो जंगल में आवाज हुई थी। आप लोगों ने नहीं सुनी ?'

'सुनी तो थी', मैंने बात समाप्त करते हुए कहा, 'और शायद इसीलिए स्वामी जी ने मुझे भेजा है।'

मैं वापस लौट पड़ा। पर अद्भुत बात हुई। ऐसा लगा, मानो भय का आवरण हटता जा रहा है। आप ही आप, मालूम नहीं कैसे, भय की भावना ही मेरे मन से दूर होने लगी। आते समय की कँपकँपी, चारों ओर भयाकुल होकर ताकने का भाव – यह सब मानो दूर होता गया और आश्रम के आते तक मानो भय का लेशमात्र भी मन में न रहा। जीवन की यह प्रथम सिद्धि मुझे मिली। स्वामी जी की कृपा को स्मरण कर मैं गद्गद हो उठा। दूर से देखा, उनके कमरे में प्रकाश था, बातचीत की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। मैं ऊबड़-खाबड़ ढाल पर दौड़ पड़ा और गिरते-हाँफते उनके कमरे में पहुँचकर उनके चरणों में लोटपोट हो गया। वे सस्नेह अपना कृपापूर्ण हस्त बड़ी देर तक मेरे सिर पर फेरते रहे। मैं उठा, पर कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए शब्द मानो नीरव हो गए थे। आश्रमवासी मेरी यही अवस्था देख कुछ समझ न पा रहे थे। स्वामीजी ने स्मित हास्य से पूछा, 'क्यों, ठीक रहा न ?' मैंने कृतज्ञता के स्वर में उत्तर दिया, 'जी, बिलकुल ठीक रहा !'

सब उठे। बाहर आकर मुझसे पूछा। मैंने बता दिया। वे भी आश्चर्यचकित हुए। मैं रात में सो न सका – आनन्द इतना उछला पड़ रहा था। मैं सारी रात जंगलों में घूमता रहा। वन के जिस भाग में दिन में भी जाने में हिचक होती थी, वहाँ जाकर बड़ी देर तक बैठा रहा, गाता रहा, घूमता रहा। वह रात्रि मेरे लिए वरदान की रात्रि थी, सिद्धि की रात्रि थी, वसिष्ठ गुहा के योगी की वह एक अनुपम देन थी।

●●●

शब्दांजलि

हे पुरुषोत्तम, हे चिदानन्द, हे स्वामी
हे दयामूर्ति, करुणामय, अन्तर्यामी
हे ज्योति पुंज, जग के अज्ञान तिमिर में
अविनाशी रहो सदा, इस मन मन्दिर में
सुन लो अब व्याकुल विनय, भक्ति का वर दो
अब करो दया की दृष्टि, शक्ति से भर दो

ये चरन कमल तज और कहाँ मैं जाऊँ
हो कृपा, अभय का दान आप से पाऊँ
जड़ जीवन में चेतनता भरने वाले
पीयूष सिन्धु, भव के दुःख हरने वाले
नय्या अगाध नीरधि से पार करो अब
ये सुमन समर्पित हैं स्वीकार करो अब

— योगेश 'प्रवीन'

श्री सद्गुरु सान्निध्य

- स्वामी रघुवीर-आनन्दपुरी

आदौ ते भगवत्कथाभिरमणं श्रीवल्लभाराधनं
पश्चान्निर्मलदेशिकोपगमनं बेलूर्मठासेवनम्।
संन्यासग्रहणं तपांसि चरणं ब्रह्मात्मसंवेदनं
शिष्यानुग्रहणं गुहाधिवसनं लीलामृतं पातु नः।।

'प्रथम श्रेणी के संत में वैभवों की इच्छा व प्राप्ति दोनों का अभाव है, द्वितीय श्रेणी में इच्छा के अभाव में भी प्राप्ति है, तृतीय श्रेणी में इच्छा व प्राप्ति दोनों हैं, चतुर्थ श्रेणी में इच्छा के होते हुए भी प्राप्ति नहीं है।' इस शास्त्र वचन के प्रकाश में प्रथम श्रेणी के गुरु की खोज में तीन वर्ष से असफल होता हुआ अंत में मैं ऋषीकेश रुक गया था। वहाँ, प्रातः स्मरणीय महाराज श्री की 'आत्मकथा' पढ़ने पर विषयों की उपस्थिति में प्रसुप्त वासनाओं की तरह मेरी आशा पुनः जाग्रत हुई; परिणामतः सन् 1956 मई दिनांक 13 अपराह्न 3-30 बजे मैं वसिष्ठगुहा पहुँचा था।

महाराज श्री के विरक्त शिष्यों की मण्डली जिसमें सभी विभिन्न भाषा भाषी तथा गिनती में भारतवर्ष की लिपियुक्त भाषाएँ जितनी थीं, प्रांगण में ही मिली। उनके दर्शन व भाषण तथा वहाँ के दृश्य व वातावरण आदि के सहयोग से उच्छृलंखता प्राप्त मेरी आशा अंकुरित होने लगी थी। उनसे अवगत हुआ कि महाराजश्री अभी सत्संग-प्रवचन हेतु आएंगे।

ठीक चार बजे महाराजश्री-प्रसन्न गम्भीर मुखमण्डल, हिम शुभ्र दाढ़ी केश, वलीयुक्त पलकों के बीच ज्वलंत निर्मल नेत्र, अवशिष्ट कुछ दाँतों से टकराने से शिशु से भी अधिक मनोहारी सदा वर्तमान विमुक्त हास, विशाल वक्ष-स्थल, सुदीर्घ भुजाएँ, पूर्ण स्वस्थ एवं स्फूर्तिमान काया, रणोद्यत नरेश तथा खिलौने से लगे शिशु की तरह तत्परता - ये सब ही बाह्य दृष्टि से महाराजश्री थे - सत्संग गद्दी की ओर पधार रहे थे। चन्द्रमा में कलंक तथा गुलाब में काँटा आदि जोड़ने वाले विधिहस्त की चतुराई स्पष्ट थी कि महाराजश्री के पैरों की समानता में कुछ अंतर था। याद आया - ''कश्मीरसारकटुतापि रसावहा मे'' (केशर का कड़ुआपन भी अच्छा ही लगता है)। दर्शन से ही मेरी आशावल्ली में कलियाँ लगने लगीं। शिष्य मण्डली के साथ अंत में मैं भी नमस्कार कर श्रवणार्थ बैठ गया।

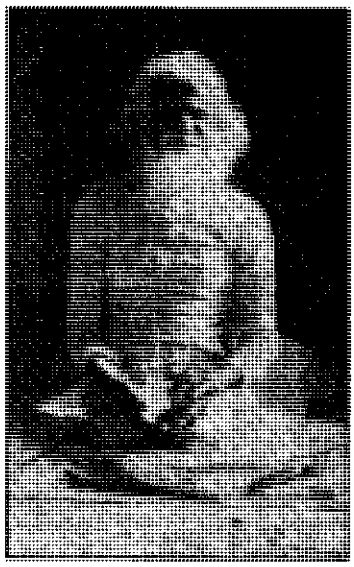

''कहाँ से हो'' यह प्रश्न महाराजजी द्वारा 'मलयालम' भाषा में मेरे प्रति था। उत्तर देने से पूर्व ही आश्चर्य ने मुझे घेर लिया था कि महाराज श्री मुझे 'मलयालम भाषी' कैसे समझ गये! आप की मित भाषिता से अनभिज्ञ होने से प्रश्न मात्र का ही उत्तर मैंने दिया; सुन कर आप सत्संग-प्रवचन में प्रवृत्त हुए। अपनी आंतरिक बातें महाराजश्री से बताने के उचित अवसर की प्रतीक्षा में मैं आश्रम में रुक गया। प्रथम वीक्षण से ही मेरे अंतरंग के अंतःस्थल तक को जाँचे हुए महाराज जी किसलिए मुझे अवसर देवें? अनाहूत अतिथि की तरह मेरा दिन जाता रहा। एक ब्रह्मचारी जी ने आश्रम की रीति-नीति सुनाया कि ''यहाँ अभ्यागतों की तीन दिन सेवा होती है, आज आपका तीसरा दिन है।'' मैंने अपनी प्रतीक्षा का विषय बतलाया। विषय महाराज जी के कानों तक पहुँच जाने पर आप का कथन कि 'वह नहीं जायगा, यहीं रहेगा'--यह मुझे छः माह के बाद विदित हुआ। यहाँ उल्लेखनीय है कि मेरे विगत तीन वर्ष के भ्रमण में कन्याकुमारी से ऋषीकेश तक गुजरे। असंख्य आश्रमों में से बहुतों के आग्रह पूर्वक रोकने तथा एक जगह दी गई जबरन संन्यास दीक्षा को भी ठुकराकर आये मेरे विषय में ही महाराज श्री उपरोक्त निर्णय

व्यक्त कर रहे थे।

आश्रम के सर्व कार्यक्रमों में मैं भी भाग लेता था। एक दिन सत्संग-प्रवचन का श्रवण कर रहा था कि महाराजश्री द्वारा मेरे प्रति प्रश्न उठा-'हे! माता की क्या उम्र है?' सत्संग के मध्य में अप्रतीक्षित एवं अप्रसक्त इस प्रश्न से सभी आश्चर्य पूर्वक मेरी तरफ देख रहे थे। मेरा उत्तर सुन कर महाराज जी ने कहा-'हाँ, हाँ, सब स्वस्थ और सुखी हैं, अब यहाँ ध्यान देकर सुन।' वस्तुतः मैं नहीं जान पाया था कि मेरा ध्यान यहाँ से इतना दूर चला गया है।

तथाकथित अतिथि के रूप में मेरा आठ सप्ताह व्यतीत होने पर गुरुपूर्णिमा की पूर्व तिथि को मैं प्रांगण में खड़ा देख रहा था कि महाराज श्री छत के ऊपर से हाथ के संकेत द्वारा मुझे बुलाकर स्वयं अपने आसन पर जा विराजे। इस कालावधि के बीच मेरे आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक विषयों की विविध परीक्षायें महाराजजी द्वारा अपनी सूक्ष्म पद्धति से ली जा चुकी थीं। मेरे पहुँच जाने पर नीचे चटाई पर बैठने के आदेश के साथ एक सूत्र (मितभाषिता का पोषक सूत्र वाक्य ही हुआ करते हैं) भी फरमाये कि- 'जब से होश सम्हाला तब से आज तक अपने साथ घटी मुख्य-मुख्य घटनाओं को सुनाओ।'

मेरे सम्मुख घटती जा रही घटनाओं के आलोक में मुझे लग रहा था कि मुझसे प्रश्न कर सुनना, परीक्षा लेना आदि केवल विडम्बना मात्र ही है। मैंने 30/40 मिनट तक अपना ब्योरा प्रस्तुत किया। सुन कर पुनः प्रश्न-''अब क्या विचार है, विवाह करना नहीं चाहते हो?'' मेरा उत्तर सुनकर महाराज जी बोले- ''कल गुरुपूर्णिमा है, प्रातः गंगा स्नान के बाद जल पुष्प आदि लेकर आना; मंत्र दीक्षा दी जायेगी।'' तदनुसार क्रमपुष्पित मेरी आशावल्ली गुरुपूर्णिमा के दिन से फलना शुरू की।

अब मैं अतिथि नहीं रहा, सदस्य था ही; अतएव सहज प्राप्त अवसरों पर महाराजश्री के समीप जा बैठता था। एक दिन मैंने निवेदन किया कि मैं तब से नित्य प्रति नियमित रूप से उसी मंत्र का जप करता हूँ जो विष्णु भगवान के नाम से मुझे दिया गया था; किन्तु प्रारम्भ काल से ही मेरे इष्टदेव शंकर भगवान रहे! सुनकर महाराज जी बोले-'हे, तुम अभी भी नहीं जानते हो कि 'भगवान एक है, विभूतियाँ अनेक हैं!' पुनः गुनगुना रहे थे **''शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः''**। मुझे सम्प्रदाय-दुराग्रह नहीं रहने से तथा अद्वैत वेदांत की ओर झुकाव रहने से सहज ही बात जँच गई।

इस प्रकार एक दिन मैं महाराजश्री के समीप पहुँचने पर आप को प्रज्ञातीत स्थिति में मैंने पाया। मुखच्छवि गवाह दे रही थी कि आप स्वयं किसी अज्ञेय स्थान अथवा अवस्था में आरूढ़ हैं। अतः मैं चुप बैठकर उस मुद्रा का रस पान करने लगा। लगभग आधा घंटे के बाद आप को मेरी उपस्थिति का भान होने पर प्रश्न किये कि 'हे, तुमने भगवान को देखा?' वस्तुतः मेरी क्या योग्यता थी कि उस अज्ञेय दृश्य को समझ सकूँ! अतः प्रश्न को मैंने अपने ढंग से मोड़कर उत्तर दिया कि 'हाँ महाराजजी, देख तो रहा हूँ, पर, समझ नहीं पा रहा हूँ'। महाराज जी की पूर्व मुद्रा बदल चुकी थी, गम्भीर मुद्रा के साथ 'शिवोऽहम्' ध्वनि निकली, तुरंत पश्चात् 'ओम् शिवम्' ध्वनि के साथ अपलक, निश्चल, शान्त मुद्रा में करीब 15 मिनट अवस्थित रहे। मुझे लग रहा था कि प्रथम ध्वनि-शिव+अहं की चैतच्छाया के संशोधन ही 'ओम् शिवम्' से कर रहे हैं।

एक बार (सन् 1957 जुलाई) मेरी बदरीनाथ यात्रा पर महाराजजी के दिये रुपयों में से शेष रहा एक पाँच रुपये का नोट एक लिफाफे में डाल कर तकिये के पास रख छोड़ा तथा इस बात का ध्यान रहा भी नहीं। बदरीनाथ में सर्दी से मुलाकात करने एक दिन वर्षा भी आ पहुँची थी। आधुनिक शिष्टाचार मान कर चाय बनाने हेतु मुझसे चूल्हा सुलगाते नहीं बनता था। कागज की खोज में उसी लिफाफे को लेकर जलती मोमबत्ती से सुलगा ही रहा था कि बिजली के झटके की तरह लिफाफा हाथ से छूटकर दूर जा गिरा, खुल गया और वह नोट परिहास भरी तथा डरावनी दृष्टि से मुझे देख रहा था। मुझे महाराजजी का वाक्य याद आया--''तापक (अग्नि) और तापस दोनों के पास बड़ी सतर्कता से रहना होगा।'' कुछ दिन बाद महाराजश्री का हस्त लिखित एक पोस्ट कार्ड जिसमें दस ही अक्षर थे, मुझे मिला, जो इस प्रकार थे ''इसे देखते ही चले आना।''

सन् 1958 में शिवानन्द आश्रम (ऋषीकेश) में रुग्ण अवस्था में शयान (स्वामी भूमानन्द जो अब न रहे) के स्वास्थ्य की स्थिति जानने हेतु एक शाम 5-30 बजे महाराजश्री मुझे ऋषीकेश भेज रहे थे। उन दिनों वहाँ मोटरें 'गेट' प्रथा के अनुसार चलती

थीं; उस दिन का अंतिम 'गेट' 5-00 बजे निकल भी चुका था। अतः धीमी आवाज में मैंने कहा कि महाराज, गेट तो निकल गया, आधा घंटा हो गया। सुनकर महाराजजी बोले- 'हे! तुम जाओ जल्दी'। महाराजश्री के समक्ष किसी की भी बहस (क्यों-कैसा) चलते मैंने न देखा न सुना था। आज्ञा यानी अलंघ्य है। अतः आज्ञा के अनुसार मैं मोटर सड़क पर पहुँचकर देखा कि एक ट्रक मेरी प्रतीक्षा में खड़ा था!

संस्कृत भाषा का अल्प ज्ञान मुझे अभिमान भेंट दे रखा था जो महाराजश्री से छिप नहीं सकता था। एक दिन मेरी उपस्थिति से ब्र0 आत्मचैतन्यजी (अब स्वामी चैतन्यानन्द जी) महाराजश्री को नमस्कार कर जा रहे थे। उनके गले में लटक रही सुन्दर एक रुद्राक्षमाला के संकेत से महाराजश्री बोले--**''मालया शोभते सम्यक्''** हाँ, पूरा करो। बस, अंत में मुझे कहना पड़ा कि मुझसे तुरन्त नहीं बनेगा। हँसकर महाराज जी बोलने लगे... **''ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः। आत्मचैतन्यनामाख्यः स्वात्मचिन्तापरायणः।।''**

इस तरह की अगणित असाधारण घटनायें, जो महाराजश्री के स्वरूपमात्रावस्थान (सन् 1961 महाशिवरात्रि) पर्यंत मेरे सम्मुख घटीं, को लिखकर व्यक्त करने का प्रयास ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक सूखी लकड़ी के सहारे से तैर कर समुद्र के पार पहुँचने की चेष्टा। अतः सन् 1956 गुरुपूर्णिमा के दिन मेरी आशावल्ली में लगे और सन् 1958 महाशिवरात्रि के शुभ पर्व पर पक्व हुए फल-संन्यास दीक्षा प्राप्ति के मधुर स्मरण के साथ उस फल का स्वाद और सुगन्ध परिमल-सुख व शांति-चिर स्थायी रहें यह कामना करता हुआ उन पूज्य चरणों में अंजलि समर्पित करता हूँ:

नानावर्णसुपुष्पाणि भावपक्वफलानि च।
निर्द्वन्द्वे त्वत्पदाम्भोजनद्वन्द्वे यान्तूपहारताम्।।

●●●

समर्पण

अपना जीवन बोझ
तुम्हें सौंपने की आशा में
खड़ा था दूर कहीं मैं,
इच्छा प्रबल थी
पर साहस नहीं था
चरण छूने का 'तुम्हारा'
इस सोच से उबरा भी नहीं था
मिल गया 'तेरा' इशारा
फिर हुआ क्या?
हाँ, बिल्कुल यही तो
तेरा मन 'तेरे' चरण में
छोड़ जीवन बोझ अपना
आ गया 'तेरी' शरण में
हो गया ऐसा समर्पण
कुछ भय नहीं-संशय नहीं
जीवन-मरण या भव-तरण मे

- एक शरणागत

●●●

श्री गुरुदेव की एक झलक

स्वामी चैतन्यानन्द

मनुष्य के अनेक जन्मों के पुण्य उदय होने पर ही सद्गुरु मिलते हैं। सद्गुरु मिलने पर उनका जन्म-कर्म सब समाप्त हो जाता है, जैसे कोई भूत-विद्या जानने वाला मनुष्य भूतग्रस्त व्यक्ति के पास जाने पर उसका भूत का आतंक समाप्त कर देता है, उसी प्रकार सद्गुरु मिलने पर सब क्लेश समाप्त हो जाते हैं। अगर सद्गुरु पारसमणी हो तो शिष्य लोहा है, जैसा पारसमणी के स्पर्श करने से लोहा सोना हो जाता है, यह एक कहावत् है। लेकिन पारसमणि लोहे को सोना बनाता है, सद्गुरु शिष्य को अपने समान ही बनाता है। तब शिष्य गुणियों में मणि बन जाता है। शिष्य को ऐनकेन प्रकारेण अपने समान बनने के समय तक गुरु उनको छोड़ता नहीं, जैसे काँटे में मछली फँस गयी तो काँटे वाला चाहे जिस तरह मछली को घुमाता है, मछली चाहे जितना प्रयास करे, काँटे से बाहर नहीं जा सकती। ठीक उसी तरह सद्गुरु के चरणों में जाने पर सद्गुरु उसे अपने समान ही बनाकर छोड़ते हैं, बशर्ते पूजा सत्य और कर्तव्य से भरी हुई हो।

श्री सद्गुरु पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज ने अपनी शरण में आये हुए किसी भी व्यक्ति को खाली हाथ नहीं भेजा, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, कामना वाला हो या निष्कामना वाला हो। लेकिन उनकी बात विचित्र थी। महापुरुषों की बात समझने के लिए महापुरुष ही बनना पड़ता है। आप कुछ सुनाना चाहें, तो वे अनसुने की तरह बैठ जाते थे अगर न सुनाना चाहते तो तुरन्त उस बात को पकड़ते थे। गुरु महाराज सबकी बात सुनते थे लेकिन कुछ कहते नहीं थे, सबका काम अवश्य हो जाता था। मैंने उनकी इसी प्रकार कई लीलाएँ देखी हैं।

गुरु महाराज अन्तर्यामी थे। उदाहरण के लिए एक बार गुरु महाराज ग्रीष्म काल में दोपहर के समय एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। मुझे (चैतन्यानन्द), श्री राजकुमार वाटल साहब, स्वामी गीतानन्द जी महाराज, मधुमास्टर (शम्भवानन्द जी महाराज) को पास बैठा दिया। बैठाने के बाद वे हर व्यक्ति से पूछते कि तुम्हें क्या चाहिए। श्री वाटल साहब ने तपाक् से उत्तर दिया कि मैं क्या चाहता हूँ आप स्वयं जानते हैं। स्वामी गीतानन्द जी महाराज ने कहा कि जब साक्षात् भगवान हमारे सामने हैं, तो हमें और क्या चाहिए। स्वामी मधु मास्टर ने भी आत्म-साक्षात्कार की बात की। हमने कहा कि आपकी सेवा और आत्म साक्षात्कार ही हमें चाहिए। तत्पश्चात् थोड़ी देर तक स्वामी जी ध्यान मग्न बैठ गये। हमको पता था कि स्वामी जी सबके अन्दर की बात देख रहे है। हमने डर से कोई विचार अन्दर आने ही नहीं दिया। तुरन्त ही महाराज जी ने कहा कि 'इसी तरह बैठना'। यह स्वामी जी की वाणी हमको अमृत के समान लगी। आदमी को वाह्य विचार कोई मन में न आये, यही आत्म साक्षात्कार का मुख्य स्रोत है।

श्री सत्य साईं बाबा एवं श्री पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

श्री सत्य साईं बाबा 1957 में शिवानन्द आश्रम

दिव्य शिष्य परम्परा

अनन्द श्री स्वामी विवेकानन्द जी महाराज

दिव्य श्री स्वामी रामकृष्ण देव

दिव्य श्री शारदा माँ

अनन्द श्री निर्मलानन्द जी महाराज
श्री पुरुषोत्तमानन्द जी के आध्यात्मिक आचार्य

अनन्द श्री ब्रह्मानन्द जी महाराज
श्री पुरुषोत्तमानन्द जी के मन्त्र दीक्षा गुरु

अनन्द श्री शिवानन्द जी महाराज
श्री पुरुषोत्तमानन्द जी के सन्यास दीक्षा गुरु

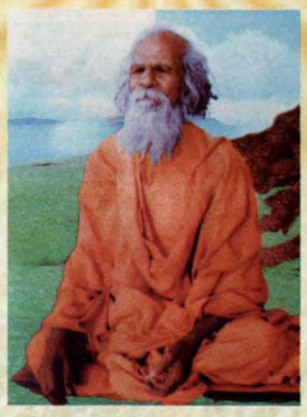

ब्रह्मश्री पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

वसिष्ठ गुहा में स्थित शिवलिंग का शिवार्चन

वसिष्ठ गुहा का प्रवेश द्वार

गुहा के अन्दर स्थित प्राचीन शिवलिंग एवं श्री गुरुमहाराज जी का ध्यान स्थल

श्री गुरु महाराज जी की गद्दी पर संध्या आरती

सायंकालीन पूजा एवं कीर्तन

से आनन्दकाशी आये हुए थे। श्री स्वामी कालिकानन्द जी को पता चला कि सत्य साईं बाबा आनन्दकाशी आये हुए हैं। स्वामी कालिकानन्द जी ने स्वामी जी से वसिष्ट गुहा में सत्य साईं बाबा को लाने की अनुमति माँगी जिसे गुरु महाराज ने स्वीकार कर लिया। उसी के कुछ समय बाद श्री सत्य साईं बाबा एवं भक्त मंडली गुफा में आ गयी। श्री सत्य साईं बाबा एवं गुरुदेव गद्दी पर बैठ गये। तत्पश्चात् साईं बाबा एवं भक्त मंडली गुफा के अन्दर गये। गुफा से सीधे वे गुरु महाराज के कमरे में गये। गुरु महाराज, साईं बाबा एवं एक-दो शिष्यों के अलावा सब बाहर थे। सत्य साईं बाबा ने सबको विभूति दिया। मेरे भी ललाट में उन्होंने विभूति लगायी। बाद में गुरु महाराज ने छत पर आकर कहा कि त्यागराज का कीर्तन सुनाओ। सत्य साईं बाबा ने बहुत ही भाव-विभोर होकर कीर्तन किया। कीर्तन सुनते ही गुरु महाराज ध्यान मग्न हो गये। काफी समय बीत गया तो सत्य साईं बाबा जाने के लिए खड़े हो गये। तत्पश्चात् महाराज जी का ध्यान टूटा। बाबा जी बहुत प्रसन्न हो गये और महाराज जी से विदा लेकर चले गये। एक दिन बाद पुनः साईं बाबा गुफा में आये, उस दिन आश्रम के एक कमरे में बैठ गये और कालिकानन्द को उन्होंने दवा के रूप में मिसरी दी। थोड़ी देर बाद सत्य साईं बाबा ने सबको बाहर जाने को कहा और दरवाजा अन्दर से बन्द कर दिया। कुछ देर बाद दरवाजा खुला तो गुरु महाराज जी एक स्फटिक माला पहने हुए थे जो सत्य साईं बाबा ने दिया था। तत्पश्चात् जब साईं बाबा और भक्तगण चले गये तो महाराज ने मुझसे कहा कि देखो इस आसन के नीचे क्या रखा है। मैंने कपड़ा उठाकर देखा तो पुराने मलमल के सफेद कपड़े में सौ-सौ के पुराने दस नोट (एक हजार) थे। दूसरे दिन ही गुरु महाराज ने इन रुपयों को गरीबों में बँटवा दिया।

गुरु महाराज की मातृ भक्ति

श्री गुरुदेव के जीवन में इतनी मातृ भक्ति थी जो अवर्णनीय है। एक बार उनकी माताजी रोग से पीड़ित होकर शैय्या पर पड़ी थीं। तीन दिन एवं रात गुरु महाराज उनके पास बैठकर भगवान का नाम लेते रहे। अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा है कि माता का स्वर्गवास बिना किसी तकलीफ के हो जाय तो उत्तम है। जब माताजी के प्राण चले गये तो गुरु महाराज शोकाकुल होकर उनके शरीर से लिपट गये। उसी समय महाराज जी ने कहा था —

आस्तां तावदियं प्रसूदि समये दुरुर्वार शूल व्यथा
नैरुच्चम् तनु शोषणम् मलमई शैय्या च साम्वलसरी।
एकस्यापि नगर्भभारभरणा क्लेशस्य यस्याः क्षमो।
दातुम् निष्कृतिमुन्यतोपि तनय तस्ये जनन्ये नमः
तस्ये जनन्ये नमः।

गुरु महाराज की गुरु भक्ति

गुरु महाराज ने हरिपाद स्कन्धदेव के मंदिर के पास के महल में पहली बार श्री निर्मलानन्द जी महाराज का दर्शन किया था। श्री निर्मलानन्द जी महाराज ने गुरु महाराज को देखकर कहा, 'क्या! यह एक भक्त नहीं है।' गुरु महाराज ने उनसे आकर्षित होकर उनके पास जाकर उनकी गोद में सिर रखकर दण्ड नमस्कार किया। गुरु महाराज जी ने बाद में लिखा था कि हमारा सिर अभी भी उनकी गोद में है। जब ब्रह्मानन्द जी महाराज बेलूरमठ से अपनी केरल यात्रा के दौरान हरिपाद आश्रम में आये थे तब निर्मलानन्द महाराज ने गुरु महाराज से कहा कि तुम्हारा भगवान आया है, ये ही तुम्हें गुरु-मंत्र देंगे। गुरु महाराज ने लिखा है जब वह हरिपाद आश्रम में गुरु-मंत्र लेने स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज के पास बैठे तो उन्हें यही प्रतीत हुआ कि साक्षात् दक्षिणामूर्ति विराजमान हैं। थोड़ी देर बाद जब ब्रह्मानन्दजी महाराज ने मंत्र-दीक्षा दे दी तो मंत्र-दीक्षा के बाद कुछ समय तक महाराज जी उनके पास ही ध्यान में बैठ गये। जब ब्रह्मानन्दजी महाराज केरल यात्रा करके कलकत्ता जा रहे थे तो उन्होंने महाराज जी से पूछा, भक्त को क्या चाहिए। तब महाराज जी ने उनसे

उनकी पहनी हुई चरण पादुका माँगी। तब उन्होंने कहा यह चमड़े की है, बाद में कलकत्ता पहुँचकर उन्होंने अपनी खड़ाऊँ भेज दी। कुछ समय बाद ब्रह्मानन्दजी महाराज के कलकत्ता पहुँचने के बाद उनकी महासमाधि हो गयी।

गुरु महाराज की भगवद् भक्ति

गुरुवायूर में उन्होंने रुग्णावस्था में 6 माह की तपस्या की। उनकी आत्मकथा में उनके भगवत् प्रेम का वर्णन अच्छी तरह से किया गया है। जब वे भगवान की स्तुति करते थे तो वे अत्यन्त भाव-विभोर हो जाते थे। गुरु महाराज ने भारत के महापुरुषों का दर्शन किया एवं यथासम्भव सबका वर्णन उन्होंने अपनी जीवनी में किया है।

गुरु महाराज का ज्ञान विचार

उत्तरकाशी में गुरु महाराज वेदान्त का अध्ययन कर रहे थे। उसी समय वे योगवासिष्ठ ग्रन्थ से इतने आत्म विभोर हो गये कि उन्होंने अपनी श्रीमद्भागवत की प्रति को ही दान दे दिया। कई ग्रन्थों की बात के निचोड़ के बारे में वे कहते थे कि अनेक कथाएं यहाँ रूपक हैं, वेदान्त उसका गूढ़ार्थ है। इस प्रकार वे वेदान्त के बारे में पूर्ण परिपक्व हो गये। एक बार की बात है, महाराज जी ने लिखा है कि जब वे स्वर्गाश्रम में रहते थे तो भिक्षा के लिए निकले थे। भिक्षा लेते-लेते देर हो गयी तो वे स्वर्गाश्रम के पास के जंगल (जहाँ आज गीता भवन है), में ध्यान के लिए बैठ गये। ध्यान में बैठने पर उन्हें चारों तरफ ज्योति ही ज्योति दिखाई दी और स्वामी जी उस प्रकाश में इतने लीन हो गये कि उनके कोई अंग काम कर ही नहीं सकते थे। गुरुमहराज ने लिखा है कि यह बात उन्होंने स्वामी शिवानन्दजी महाराज से बतायी। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि वही प्रकाश मेरे जीवन में अध्यात्म एवं भगवत् दर्शन का प्रथम सोपान था। मैंने एक बार गुरुमहाराज से पूछा कि भक्ति और ज्ञान में कौन श्रेष्ठ है तो महराज जी ने कहा दोनों को मिला दो।

ओउम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

●●●

श्री गुरुदेव जी की आरती

- स्व. मनोज कुमारी श्रीवास्तव

ब्रह्मलीन अनन्त हे, गुरुदेव मेरी आरती लो
शक्तिमान महान हो, फिर मैं तुम्हें क्या पूजना दूँ
पत्र पुष्प न दीप चन्दन, मैं तुम्हें क्या अर्चना दूँ
दे रहे हैं ये नयन जो, आंसुओं का हार ही लो
मैं अपावन तुम पतित पावन, मिले अब शरण मुझको
भव समुद्र अगाध की पतवार हैं ये चरण मुझको
आज विनती है कि मेरी प्रार्थना स्वीकार ही लो।

●●●

श्री गुरुदेव के कुछ संस्मरण

- स्वामी पुरहरानन्द

मुझे कई वर्षों तक गुरु महाराज की के पास रहकर उनकी सेवा करने का सौभाग्य मिला था। एक दिन गुरुदेव मुझसे पूछ बैठे "उमेश (मेरे पूर्वाश्रम का नाम), तुम्हें संन्यास चाहिए?" मैंने कहा "जैसी आपकी इच्छा"। गुरु महाराज जी ने पूछा – "संन्यास का अर्थ जानते हो?" मैंने कहा "हाँ महाराज–सबका त्याग"। उस समय हमारे कुछ और गुरुभाई लोग बैठे हुए थे। उनसे गुरुदेव ने कहा "हे! तुम लोगों ने सुन लिया।" वे सब हतप्रभ थे मेरे उत्तर को सुनकर। क्योंकि उन्हें मुझसे इस प्रकार के उत्तर की आशा नहीं थी। ऐसा इसलिए था कि मैं एक सीधा–सादा गाँव में पला ब्रह्मचारी था और मुझे अन्य गुरुभाइयों की अपेक्षा कम ज्ञान था। वे लोग कभी–कभी मेरी खिल्ली भी उड़ाया करते थे। किन्तु उन लोगों के बीच गुरुमहाराज की कृपा से मेरे इस प्रत्युत्तर ने सब को आश्चर्य में डाल दिया था। गुरु महाराज की प्रेरणा से ही तो मैं उत्तर भी दे पाया। फिर क्या था? बाद में चलकर महाराज जी की अपार कृपा हुई और उन्हीं के हाथ से संन्यास भी मिल गया। यही तो उनकी कृपा की पराकाष्ठा थी।

एक बार गुरु महाराज ने मुझसे कहा "वसिष्ठ गुहा छोड़कर मत जाना। मैं बहुत जगह घूमा हूँ, किन्तु साधन–भजन के लिए ऐसी जगह कहीं नहीं मिलेगी।"

गुरु महाराज जी कहा करते थे कि छल रहित सेवा करनी चाहिए। गौ माता की सेवा पर उनका विशेष ध्यान था। एक बार ऐसे ही उन्होंने मुझसे कहा "उमेश! दराती (घास काटने का औजार) लेकर मेरे साथ चलो।" उनके साथ ऊपर सड़क पर गया तो एक जगह अच्छी सी हरी घास दिखायी पड़ी, यद्यपि पास में उसी तरह की और घास भी थी परन्तु उन्होंने साफ सुथरी घास काटने को कहा जहाँ पर थोड़ी कठिनाई थी। साथ ही साथ यह भी कहा "पशुओं से भी निष्कपट प्रेम करना चाहिए।"

सब जीवों से निश्छल एवं निष्कपट प्रेम, हम सबके लिए उनका सूत्र वाक्य था। वही निष्कपट हँसी हमेशा उनके चेहरे पर झलकती रहती थी। यह अनुभव उन सभी का था जो उनसे मिले थे।

गुरु महाराज के पास जब मैं आया था तो उस समय मेरी उम्र कम थी। बाल स्वभाव और चपलता अभी गयी नहीं थी। सभी गुरु भाइयों के साथ मुझे भी पढ़ने–पढ़ाने के लिए बैठाते थे किन्तु मौका मिलते ही मैं वहाँ से खिसक जाता था। परन्तु वे भी हमारी चालाकी समझते हुए प्रेम भरी डाँट–डपट से चौकसी रखने से नहीं चूकते थे। एक समय की बात है, मैं गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'तत्त्व चूड़ामणि' पढ़ रहा था और एक शब्द 'एषः' को मैंने महाराज जी के पूछने पर हड़बड़ी में 'तेषः' पढ़ा। उस समय महाराज जी ने गलत उच्चारण के लिए मुझे डाँटा भी किन्तु उनका हृदय पिघल गया ("सन्त हृदय नवनीत समाना") फिर मुझसे ठीक तरह पुनः श्लोक पढ़वाकर

उसकी अच्छी तरह से व्याख्या करके मुझे समझाया। यह घटना आज तक मैं भूल नहीं सका। उन दिनों के बाल स्वभाव तथा चपलता का पुनः ध्यान करने पर अब बहुत पछतावा होता है। यदि उस समय गुरु महाराज की निकटता एवं सान्निध्य का पूर्ण लाभ लिया होता तो आज मेरी आध्यात्मिक रूप से और अधिक उन्नति हुई होती।

आज जो कुछ ज्ञान मुझे प्राप्त है वह तो केवल गुरु महाराज की कृपा से ही है। यदि वह उसी समय प्राप्त हो जाता तो आगे ईश्वराधना की सीढ़ियों में और ऊपर चढ़ जाता और जितना प्रयास अब तक करना पड़ा उससे बच जाता। आज भी गुरु महाराज की कृपा मुझ पर बनी हुई है और याद दिलाती है **''मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम''**। ऐसी मेरे गुरु महाराज की कृपा है। महाराज साक्षात ब्रह्मस्वरूप हैं किन्तु मोह एवं अज्ञान के परदे के कारण उन्हें जान नहीं पाया। उनका स्नेह इतना था कि एक दिन हँसी-हँसी में उन्होंने अपना दाहिना हाथ हमारे सामने फैला दिया और कहा ''मेरा हाथ देखकर कुछ बताओ।'' मैं अनाड़ी भला ऐसे प्रभु का हाथ कैसे देखता? उनकी उन्मुक्त हँसी देखता रह गया। उन्होंने मेरे अन्दर की भावना को जान कर यह लीला की। वास्तव में मेरी आदत ज्योतिषियों के सामने हाथ फैलाने की थी जिसे अन्तर्यामी गुरु ने जान लिया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कार्तिक मास, शुक्ल पक्ष, द्वादषी को महाराज जी ने पूछा, ''ऐ उमेश! क्या तुम्हें संन्यास लेने की इच्छा है?'' मैंने उत्तर दिया, ''जैसी आपकी इच्छा।'' महाराज जी ने कहा, ''ठीक है कल उपवास करो तथा गायत्री जप करो।'' उन्होंने नये वस्त्र दिये तथा कहा, ''इन्हें गेरुआ में रंग कर सुखा लो और अपने पास रखो। भजन ठीक से करना, मन इधर-उधर न जाये, चतुर्दशी को जागरण कर जप, ध्यान करना।'' प्रातःकाल तीन बजे कार्य आरम्भ हुआ। महाराज जी ने वेद-विधि से संन्यास दिया। इस कार्यक्रम में केवल संन्यासी ही सम्मिलित होते हैं। वहाँ उपस्थित संन्यासियों में स्वामी सेवानन्द जी, भूमानन्द जी, निर्वेदानन्द जी, कालिकानन्द जी तथा रामानन्द जी थे। उन लोगों से महाराज जी ने पूछा कि इन्हें (मुझे) संन्यास नाम क्या दिया जाये। किसी ने कुछ कहा नहीं, बाद में महाराज जी ने कहा, 'इसका नाम होगा-पुरहरानन्द'।

''सर्वं खल्विदम् ब्रह्म'' अर्थात यहाँ पर स्थावर जंगम जो कुछ दिखता है, चींटी से लेकर हाथी तक तथा उससे परे ब्रह्मा जी तक सब एक ही निरुपाधिक ब्रह्म है। यह एक महावाक्य है। 'तत्त्वमसि' जिससे ब्रह्म के स्वरूप में अपने एक्य होने का ज्ञान होता है- यह भी एक महावाक्य है। गुरु महाराज ने इन महावाक्यों का उपदेश मुझे दिया।

अद्वैत मत के अनुसार मोक्ष पाने के लिए महावाक्यों का श्रवण अत्यावश्यक है। धन्य हूँ मैं जो एक साधारण मनुष्य होकर भी श्रीरामकृष्ण परमहंस जी की शिष्य परम्परा के एक ऐसे महापुरुष की दया और कृपा का पात्र बना। पूज्यनीय श्री गुरु महाराज जी को मेरा अनंत कोटि साष्टांग प्रणाम।

●●●

जो वस्तु घर के अन्दर है उसको घर के बाहर दस हजार वर्ष में भी ढूँढ़ोगे तो भी कहीं मिलेगी? दरवाजा खोल कर अन्दर जाओ। तुम्हें वह वस्तु तुरन्त मिल जायेगी। मन को अन्तर्मुखी रखो।

- श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

मेरे गुरुदेव करुणामय

- स्वामी शान्तानन्द पुरी

मेरे वसिष्ठगुहा के गुरुदेव की अपार करुणा का क्या वर्णन करूँ? जब तक गुरुमहाराज के शरीर के सान्निध्य में रहा, तब तक उनकी महिमा को मैं नहीं समझ पाया। अभी जब हाल ही में साधना से मन परिशुद्ध होने लगा, तभी ज्ञात हुआ कि मैं कितना मूर्ख था कि साक्षात् परब्रह्मस्वरूप में निष्ठित गुरुमहाराज को उन दिनों मैं ज़रा भी नहीं पहचान पाया।

'महिमा तव गोचर शुद्ध मने
गुरुदेव, दया कर दीन जने।'

मुझ पर गुरुमहाराज की करुणावर्षा तब प्रारम्भ हुई जब मैं सन् 1957 में पहली बार उनके सामने वसिष्ठगुहा में एक अजनबी भक्त के द्वारा लाया गया। पहली ही भेंट में उनकी आज्ञा हुई कि मैं उनके आगामी जन्मदिन समारोह में वसिष्ठ गुहा में, महाराज के सामने, श्रीमद् भागवत का सप्ताह पाठ तथा प्रवचन करूँ। यही प्रथम दीक्षा थी। 1959 में, यद्यपि महाराज से मैंने मन्त्र दीक्षा नहीं माँगी थी तब भी अपने ही जन्मदिन की सायंकाल की बेला में स्वयं उन्होंने मुझे बुलाकर मेरे इष्टदेवता का मंत्र दे दिया। शास्त्रों में बिना माँगे किसी को दीक्षा देना मना है। **'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'**। करुणासागर की लहर के सामने शास्त्र भला कैसे टिकेगा?

सन् 1958 में, जब मैं (पूर्वाश्रम में) मेरठ में नौकरी करता था, मेरे एक मित्र ने तार भेजा – 'महाराज दिल्ली में नं. 1 लोधी कालोनी में ठहरे हैं, जल्दी आना।' अगले दिन सवेरे मैं दिल्ली में लोधी कालोनी जाकर जब बस से उतरा, उसी समय एक महिला सामने से आ रही थी जो महाराज की शिष्या थी और इन्द्रप्रस्थ कालेज की प्रशिक्षिका थी। मुझे देखकर उसने प्रश्न किया – 'क्या आप गुरु महाराज के दर्शन करने जा रहे हैं?' 'हाँ' कहकर मैंने तार दिखा दिया। उस महिला ने तुरन्त कहा 'यह पता तो गलत है। सही पता तो नं. 1 लोधी रोड है जहाँ श्री

कौल साहब वित्त सचिव की कोठी में गुरुदेव ठहरे हैं।' उन्होंने एक आटो रिक्शा वाले को बुलाकर उसे सही पता समझाकर मुझे उस आटो में बिठा दिया।

जब मैं उस कोठी के प्रवेशद्वार पर उतरा, तो सामने ही कोठी के बाहर लॉन में, कई भक्तों के साथ गुरुदेव विराजमान थे। मुझे देखकर उन्होंने हँसकर कहा – 'देखो इसको गलत पता मिला, फिर भी सही जगह पर पहुँच गया।' तार देने वाला भी यह नहीं जानता था कि उसने गलत पता दे रखा था। जरूर ही मेरे सर्वज्ञ गुरुदेव ने उस प्रशिक्षिका महिला को बस स्टैण्ड पर जाकर मुझे सही पते पर भिजवाने के लिये प्रेरणा दी होगी। हे गुरुदेव, करुणा ही आपका इतर नाम है।

फरवरी 1971 की बात है। मैं (पूर्वाश्रम में) 1967 से 1971 नवम्बर तक ईस्ट अफ्रीका के तनजानिया देश में भारत सरकार की ओर से भेजा गया था। वहाँ, दस साल से ऊपर के वैवाहिक जीवन के बाद, आगाखान अस्पताल में एक पुत्र का जन्म हुआ था। चौथे दिन ही बच्चे को तेज बुखार हुआ। खून का टेस्ट करवाने पर ज्ञात हुआ कि बच्चे को ऐसी विरली बीमारी हुई है जिसका कोई इलाज ही नहीं है और जिससे बचना सर्वथा असंभव है। उसके

खून में एक विरोधी किस्म का खून प्रवेश करके रोज़ असली रक्त कणों का नाश करता रहेगा। उस बीमारी का नाम था "ABO Incompatibility" (ABO ग्रूप के रक्त कणों का असामंजस्य)। डाक्टर ने साफ कह दिया था कि बच्चे की मृत्यु दस पन्द्रह दिनों के अन्दर निश्चित है। बच्चे को दूध पिलाना भी बन्द हो गया। केवल ग्लूकोज पानी की कुछ बूँदें मुँह में डालते थे।

अफ्रीका जाने के बाद मैं कई तरह के कामों में व्यस्त होकर रह गया और प्रायः रात्रि में, मित्रों की पार्टी तथा मन्त्रियों के घरों में निमन्त्रण में जाना मुझे अनिवार्य था। इसी कारण उन साढ़े चार सालों में गुरु महाराज का या भगवान का स्मरण, पूजापाठ, जप, ध्यान कुछ भी नहीं हो पाया। गुरु महाराज को शरीर छोड़कर ब्रह्मलीन हुए दस साल हो गये थे। जब मैं डाक्टर से मिलकर अस्पताल के वार्ड की ओर वापस आ ही रहा था तभी मुझे गुरुदेव की स्पष्ट वाणी सुनायी पड़ी – 'हे !, बच्चे की माताजी से बोलो रोज़ 'रामनाम' भरसक लिखने के लिये। बच्चा ठीक हो जायगा।' मुझे तो विश्वास ही नही हो रहा था और मैंने इस घटना को मन का भ्रम समझा था। परन्तु तीन चार मिनट के बाद फिर वही वाणी सुनाई पड़ी। अब एक और परेशानी खड़ी हो गयी। बच्चे की माँ मुम्बई विश्वविद्यालय की स्नातिका थी जिसे भगवान या महात्मा लोगों के प्रति कोई श्रद्धा, विश्वास या प्रेम का भाव नहीं था। वह पूछ सकती थी कि 'राम नाम लिखने के लिये मुझे ही क्यों बोला गया – आपको क्यों नही कहा ?' या 'आपके गुरुजी मेरे पास सीधा आकर कह सकते थे। ऐसा क्यों नहीं किया ?' ऐसे सवालों का मैं क्या जवाब देता ?

बच्चे की माँ खूब रो रही थी ! मैंने गुरुदेव के संदेश की बात उससे नहीं कही क्योंकि वह उस पर बिलकुल विश्वास नहीं करती। मैंने उससे कहा – 'महात्मा लोगों के मुख से सुना है कि संकटकाल में रामनाम ही एकमात्र आश्रय हैं तुम राम नाम लिखना शुरू करो और देखो क्या चमत्कार होता है। बिना किसी तर्क–वितर्क के उसने तुरन्त मेरी बात मान ली। यह भी तो गुरुकृपा से ही साध्य हुआ। मैंने कई बालपेन तथा कापियाँ लाकर दीं। वह दिन रात रोती–रोती रामनाम लगातार लिखती रही। तीसरा या चौथा दिन था। एक डाक्टर ने मुझे बुलाकर कहा – 'आपके बेटे का विरोधी खून (Indirect Blood) कल 75 प्रतिशत था। आज 30 प्रतिशत हो गया है। यह तो चिकित्सा शास्त्र तथा अनुभव के अनुसार हो ही नहीं सकता था। यह हमारे अनुभव तथा ज्ञान के बाहर की बात है। कल शायद फिर बढ़ भी सकता है। आप अल्लाह से प्रार्थना कीजिये।' रामनाम लिखने के प्रारम्भ से दसवें दिन यह घोषित किया गया कि बच्चे का खून अब शत–प्रतिशत शुद्ध हो चुका है और सारे विरोधी रक्तकण अपने आप विनष्ट हो गये हैं।

मेरे गुरु महाराज ने अपना शरीर छोड़ने के पश्चात् पूर्णरूप से हमें अपनी करुणा का पात्र बना लिया था। एक बार उन्होंने कहा था – 'मेरे शरीर छोड़ने के बाद मेरी शक्ति का प्रभाव अबाधित और असीमित रहेगा।'

गुरुदेवं यतिश्रेष्ठं करुणावरुणालयम्।
कटाक्षानुग्रहकरं वन्देऽहं पुरुषोत्तमम्।।

●●●

मन, वचन अथवा कर्म से किसी को भी हानि मत पहुँचाओ। सबके प्रति सद्भावना रखो। पात्र देखकर यथायोग्य दान दो।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

श्री सद्गुरु का प्रसाद*

- स्व. हंसराज नागर

सन् 1937 में जब श्री महाराज जी लखनऊ पधारे थे तब उनके दर्शन मुझे पहली बार भाई श्री ईश्वरीदयाल जी के यहाँ मौलवीगंज, लखनऊ में हुए थे। वहाँ कीर्तन का आयोजन हुआ था जिसमें जिस कीर्तन मंडली को आमंत्रित किया गया था उसका मैं एक छोटा सा सदस्य था। कीर्तन के पश्चात् मैंने महाराज जी से अपने यहाँ आने की प्रार्थना की जिसको उन्होंने बड़ी उदारतापूर्वक स्वीकार किया और पधार कर कृतार्थ किया। उस समय से उन्होंने मुझ दास को बराबर अपने चरण कमलों में आश्रय दिया। थोड़े दिन मेरे पास रहकर वे गोमती नदी के तट पर शुक्लाघाट पर रहने लगे। मुझे भी अपने साथ वहीं रखने का अनुग्रह किया। उनके आदेशानुसार जब भी वे लखनऊ पधारते थे, मैं बराबर उनकी सेवा में शुक्लाघाट पर ही रहता था। प्रातः घर पर भोजन करके अपने कार्यालय जाता और सायंकाल वहाँ से सीधा शुक्लाघाट उनके पास रात्रि को रहने के लिये पहुँच जाता था। लोगों के बुलाने पर वे जहाँ कहीं भी जाते मुझे हमेशा साथ ले जाते थे। उस समय वे हिन्दी नहीं बोल पाते थे अतः उनके अंग्रेजी भाषा के कथन को मैं हिन्दी में समझाता रहता था।

उनके उपदेशों में दो बातें मुख्य रहती थीं। उनका मूल उपदेश था **"Love, Love, Love. Feel, Feel, Feel for others and serve them as best as you can"** (प्रेम करो, प्रेम करो, प्रेम करो। दूसरों के प्रति बराबर सहानुभूति रखो और अपने भरसक उनकी सेवा करो)। श्री महाराज जी के अल्प भाषी होने के कारण उनके उपदेश सूत्र रूप में ही होते थे। गंभीर विचार और मनन से ही उनका ठीक-ठीक भाव समझ में आ सकता है।

●●●

मेरे सद्गुरु*

- स्व. भगीरथ लाल

सेवक सन् 1943 ई. में 27 वर्ष की अवस्था में सन्निपात रोग से मुक्ति पाकर यह विचार करने लगा था कि जीवन में सादगी और ईश्वर-प्रेम आवश्यक है क्योंकि यह शरीर क्षणभंगुर है और जीवन के इरादे अनेक हैं जो चाहे पूर्ण हों या अपूर्ण ही रह जायें। ऐसे भटकते प्राणी को, कतिपय महात्माओं के, जो गणेशगंज लखनऊ में आये हुये मानस-सम्मेलन में प्रवचन करते थे, सम्पर्क में आने का अवसर मिला परन्तु किसी को समर्पण करने का भाव न उठा। इस प्रकार भटकते हुए जन को सन् 1946 ई. में उनके एक गृहस्थ भक्त श्री हंसराज जी नागर द्वारा महाराज जी के दर्शन लाभ का अवसर प्राप्त हुआ। प्रथम साक्षात्कार में इतना मूक-आकर्षण हुआ कि आज तक उनके चरणों से अलग होने की स्वप्न में भी इच्छा न हुई। उस दिन कोई बात न हुई थी — एकान्त में बैठे हुये एक कमरे में महाराज जी के चरणों में प्रणाम किया और पूछने पर अपना नाम और व्यवसाय बताकर आदेशानुसार वहीं लगभग एक घण्टा मौन बैठने पर जिस आनन्द का अनुभव हुआ वह वर्णनातीत है। न जाने उनकी उपस्थिति में क्या जादू हुआ कि मैं अवाक् निर्विचार, शान्त, स्तब्ध और गहरी ध्यानास्थिति में बैठा रहा और विचित्र आनन्द का अनुभव किया जो आज भी भुलाया न जा सका। वह स्थिति उनके ''ओम्'' शब्द के उच्चारण

से टूटी और इशारे से पाये आदेशानुसार चलते समय यह सुना कि "Silence is the best mode of conversation" मौन ही संवाद का सर्वोत्तम ढंग है – जब–जब उनकी उपस्थिति में बैठने का शुभ अवसर प्राप्त होता तो मौन होकर एक आसन में सीधे बैठने की आदत सी बन गई जैसे इसका प्रशिक्षण दिया गया हो। महाराज जी थोड़े ही दिनों में शुक्लाघाट पर ठहरने गोमती किनारे चले गये। चलते समय जब मैंने पूछा कि मैं तो केवल 9.30 या 10 बजे रात्रि में ही दर्शन हेतु वहाँ उपस्थित हो सकता हूँ – तो उत्तर था कि वही सत्संग का अच्छा समय है। कितनी विशाल–हृदयता थी। मैं इतना आकृष्ट हो चुका था कि सुनसान रास्ते से मेडिकल कालेज के अन्दर से जब मैं शुक्लाघाट पहुँचा तो कहाँ वे ठहरे थे– यह न मालूम था। अतएव थोड़ी देर प्रतीक्षा कर एक दिन वापस आ गया और दूसरे दिन पुनः उतनी ही रात्रि को 10 बजे पहुँचा तो पहले ही दिन की दशा थी – परन्तु मैंने वहीं ठहर कर रात बिताकर उनसे मिलने की सोची। इस भाव से अपनी साइकिल को ताला लगाकर वहीं गोमती घाट की एक बुर्जी पर बैठ गया – नीचे हर हर शब्द करती गोमती माँ बह रही थीं और एकान्तवास में क्या आनन्द होता है इसका कुछ–कुछ भान कराती थीं। इतने में पूर्व की ओर स्थित मंदिर का किवाड़ खटका और खड़ाऊँ के शब्द के साथ एक मूर्ति बाहर निकली–वह ही महाराज जी थे। मैं धीरे–धीरे उधर बढ़ा और अपनी टार्च का प्रकाश फेंक कर बताया कि मैं कौन हूँ। महाराज जी ने इशारे से कमरे के अन्दर आकर दीपक जलाने को कहा और ऐसा करके मैं चुपचाप महाराज जी की चौकी के पास बैठ गया। वहाँ 2 या 3 सज्जन सोये हुये थे – वे जगे नहीं। मैं महाराज जी के निकट लगभग दो या ढाई घंटे कैसे बैठा रहा कह नहीं सकता। इतना समय अनजाने ही बीत गया। मन पूर्णतया शान्त था। कोई विचार भला या बुरा नहीं उठ रहा था। महाराज जी के सूक्ष्म इशारे पर उठा, चिराग बुझाया और उसी रात को दो या ढाई बजे साइकिल से एकान्त, निर्जन स्थानों रेजीडेंसी आदि से होता गणेशगंज अपने निवास स्थान आ गया जहाँ चुपचाप दरवाजा खुलवाकर आनन्द से सो गया। उस वर्ष इसी प्रकार महाराज जी की शरण में बैठने का अवसर प्राप्त होता रहा।

सद्गुरु का आदेश

एक बार की बात है महाराज जी के पत्र से पता लगा कि वे बद्रीनाथ यात्रा पर जाने वाले हैं। जब मैंने उन्हें अपने साथ मुझे ले चलने हेतु लिखा तो उनका स्वीकृति पत्र आ गया और मैंने मेडिकल छुट्टी ले ली और जैसे ही उन्हें इसकी सूचना दी कि इसी बीच पत्र मिला कि वे तो चल पड़े हैं पत्र में विशेषतया लिखा था कि –

> "किसी को दूसरे वर्ण के एवं आश्रम वाले की नकल नहीं करनी चाहिये। सबको अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये और अपने आश्रम में धर्मों का पालन करते हुये जीवन की सफलता प्राप्त हो सकती है।"

गुरु पूर्णिमा पर गुरुपूजन

एक बार सन् 1958 की बात है मैं जून के महीने में दिल्ली से लौटते समय केवल एक सप्ताह के लिये गुहा गया था। पहले मेरा ऐसा कोई इरादा न था। दिल्ली पहुँचकर विचार ऐसा बना। वहाँ पहुँचकर 2 जुलाई को गुरु पूर्णिमा पड़ रही थी। अतएव छुट्टी बढ़ा ली परन्तु जैसे–जैसे वह दिन निकट आया चिन्ता हुई कि धनाभाव के कारण मैं उक्त अवसर पर किस प्रकार पूजा कर सकूँगा। वहाँ बहुत से लोग पहुँच रहे थे और मैं भी कहीं स्थान साफ करने या पुष्प इकट्ठा करने इत्यादि कार्यों में लगा रहता था, पर मन उसी उधेड़ बुन में था कि यकायक घूमता फिरता मेरे नाम से पचीस रुपये का एक मनीआर्डर आ पहुँचा। फलस्वरूप वह रुपये मैंने ऋषिकेश जाते किसी ब्रह्मचारी को दिये कि पूजा की सामग्री नैवेद्य तथा कुछ वस्त्र लेते आवें। वह भी आ गया। दूसरे दिन ही गुरु पर्व था। मैं रात में सोचता रहा कि मैं महाराज जी की अलग पूजा कैसे कर सकुँगा। सम्भव है सबके साथ संकोचवश मुझे उपयुक्त समय ही न प्राप्त हो सके। प्रातःकाल चार बजे ही उठकर स्नान कर लिया और सारी पूजा–सामग्री एक स्थान पर संजो कर रख ली थी कि एकाएक पाँच बजे श्री पीताम्बर जी ने जो अब स्वामी चैतन्यानन्द जी हैं मुझे बुलाया और कहा कि महाराज जी की पूजा करो जाकर। ऐसा महाराज जी का आदेश है। मैं अत्यन्त हर्षित हो उठा और अपने पूज्य पिताजी को जो एक दिन पूर्व पहुँचे थे लेकर ऊपर वाली कोठरी के द्वार पर जो गंगा जी की ओर है पहुँच गया, वहाँ गुरु महाराज प्रगट हुये, मुझे तो पूजा की

कोई विधि आती न थी। या यों कहिये उस समय किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो गया। महाराज जी जैसा बताते गये उसी प्रकार पद प्रक्षालन, वस्त्रार्पण, चंदन लेपन, माल्यार्पण, माला, पुष्प, सुगन्धि आदि अर्पित कर आरती उतारी और चरणाभिवादन कर आशीर्वाद प्राप्त किया। पिता पुत्र हम दोनों कृतार्थ हो गये।

मेरे तो बड़े से बड़े सांसारिक कष्ट भी महाराज जी की याद करते ही समाप्त हो जाते हैं। एक बार मेरे चतुर्थ पुत्र एक वर्षीय विवेक का ज्वर रात्रि में एक-एक डिग्री प्रति घण्टा बढ़ रहा था। प्रातः चार बजे वह 104 डिग्री तक पहुँच चुका था। उन्नाव में उस समय डाक्टर के घर जाकर बुलाना था। उसे छोड़कर जाने का साहस न पड़ रहा था। जब कोई बचत का सहारा न देखा तो महाराज के हवन की भभूत पड़ी थी उसे निकाला, उसे लगाया और उसी पोटली में महाराज जी द्वारा प्रयुक्त फेरमफास की छोटी शीशी भी पड़ी थी उसकी भी दो गोली दी गई बस बुखार उतरना आरम्भ हो गया और प्रातः काल तक वह ज्वर मुक्त हो गया। ऐसा था उनकी स्मृति का प्रभाव।

●●●

श्री महाराज जी तथा मेरे कुछ संस्मरण*

- स्व. सीताराम श्रीवास्तव

गुरु दर्शन

महाराज जी जाड़े की ऋतु में जब कभी लखनऊ पधारते थे तो हमेशा गोमती के किनारे शुक्ला घाट पर ही ठहरते थे। उधर से आते जाते हुए भी मैं कभी उनके दर्शन के लिए नहीं गया किन्तु जब मेरे भाग्य उदय होने की घड़ी आ गई तो मेरे भाई साहब ने मुझे फोन द्वारा गऊघाट पम्पिंग स्टेशन पर, जहाँ पर अब मैं रहने लगा था, सूचित किया कि स्वामी जी कल सुबह आयेंगे और चार छः दिन एकान्त-वास करना चाहते हैं, अतः उनके लिए उचित प्रबन्ध कर देना। ये सन् 1950 की बात है। अगले रोज सुबह के समय मैंने देखा कि महाराज जी अपने भक्तगणों के साथ चले आ रहे हैं। मैं उनके प्रथम दर्शन से ही बहुत प्रभावित हुआ। महाराज जी इस बार मेरे यहाँ कुछ रोज ठहरे थे। भक्त लोग स्वामी जी के दर्शन करने आते जाते रहते थे और सायंकाल कीर्तन भी होता था।

रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने कहा है :-

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'

मैं इसे ईश्वर की **कृपा** ही कहूँगा कि मेरा परिवार उसी क्षण से उनका तुच्छ सेवक हो गया। इससे यहाँ स्पष्ट होता है कि महाराज जी दीनों पर दया करने हेतु कितना कष्ट सहन करते थे।

महाराज जी का हृदय बड़ा कोमल था। महाराज जी स्वयं कहते थे कि 'मक्खन तो गर्म करने से पिघलता है लेकिन सन्त का हृदय मक्खन से भी कोमल होता है तथा दूसरों के दुःखों पर पिघल जाता है।' ऐसे महात्मा बिरले ही पाये गये हैं।

श्री महाराज जी ने समय-समय पर व्यक्तिगत रूप से जो शिक्षाएँ दी हैं वो मैं यहाँ देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

गुरु की महानता

एक बार मेरे भ्राता श्री माधव प्रसाद जी के मकान पर महाराज जी ठहरे हुए थे और भक्त जन महाराज जी के पास एकत्रित थे। मैं उसी मकान में दूसरे स्थान पर था। मेरे मन में यह व्याकुलता उत्पन्न हो रही थी कि मुझमें कोई साधना नहीं है, अतः मेरा क्या होगा। कुछ क्षण बाद जब मैं महाराज जी को प्रणाम करके उनके निकट बैठा तो अन्तर्यामी भगवान ने मेरी व्याकुलता को जानकर मुझसे कहा रामायण पढ़ो। मैंने महाराज जी को रामायण दी कि मैं कहाँ से पढ़ूँ तो उन्होंने रामायण खोलकर मुझसे

गुरु वन्दना पढ़वायी।

'बंदउं गुरु पद पदुम परागा .... कौतुक देखत शैल बन भूतल भूरि निधान।'

इतना पढ़ लेने के उपरान्त रामायण बन्द करवा दी। उसी क्षण मैं समझ गया कि महाराज जी ने मेरी शंका का समाधान कर दिया। अन्य उपस्थित भक्त लोगों ने इसको एक साधारण प्रसंग ही समझा होगा। वे ऐसे गुप्त रूप से अपने भक्तों को शिक्षा दिया करते थे।

अध्यात्म शिक्षा

एक समय की बात है वसिष्ठ गुहा में सायंकाल नित्य नियमानुसार भजन व कीर्तन संस्कृत में हो रहा था, मैं संस्कृत नहीं समझता था। कीर्तन की समाप्ति के बाद सब बाहर चले गए। मैं केवल महाराज जी के पास बैठा था। महाराज जी उठकर गुहा के बाहर मेरे कंधे पर हाथ रखकर निकलने को हुए तो मुझसे कहा।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः'

इतने में ही अगर चित्त establish हो जाय तो काफी है।

एक समय महाराज जी ने मुझसे कहा कि :-

"Silence is the best song" या "Talk for Talk sake." "Attachment is hell, nonattachment is happiness". मनोनिवृत्ति परमोशान्ति। So try to detach from outside world and go and go inside and inside. Sit inside with the grace of God and Guru you shall attain happiness in no time".

तुलसीदास जी ने भगवान के लिए कहा है :-

''बिन पद चलइ सुनइ बिनु काना
कर बिन करम करइ बिधि नाना
आनन रहित सकल रस भोगी
बिनु वाणी वक्ता बड़ जोगी''

गुरु कृपा

एक बार जाड़े के दिनों में महाराज जी सदैव की भाँति लखनऊ आये और फिर यहाँ से इलाहाबाद चले गये। वहाँ उनका 6-7 दिन ठहरने का विचार था। इधर लखनऊ में मेरे भ्राता श्री माधव प्रसाद जी के चेहरे पर फ़ालिज का असर हो गया था और इस बात को महाराज जी इलाहाबाद में बैठे हुए जान गये। उन्होंने वहाँ भक्त लोगों से अपने लखनऊ वापस जाने की बात कही और अन्य साधु सन्तों को सूचित कर दिया। इसके साथ एक तार भी भिजवा दिया। उस वक्त वहाँ लोगों को ये आश्चर्य हुआ कि क्यों इतनी जल्दी वापस जा रहे हैं। लखनऊ पहुँचते ही वे मेरे भाई के घर पर पहुँचे और फिर रात के समय स्वयं काफी पीने की इच्छा जाहिर की। उस काफी की एक दो घूँट पीकर उन्होंने प्रसाद के रूप में इंजीनियर साहब को पीने के लिये दे दिया जिसको भाई साहब पी गये। इस वक्त भाई साहब को उसका स्वाद भी मालूम हुआ जबकि इसके पहले पानी या किसी अन्य चीज़ का स्वाद उनको नहीं मालूम होता था। सुबह के समय महाराज जी ने अपने खाने के लिये खिचड़ी बनवायी। उसमें से दो चम्मच खा लेने के बाद उन्होंने वो खिचड़ी इंजीनियर साहब को खिला दी और उनसे कहा 'तुम्हारा इलाज हो गया।' इसके बाद वे शुक्ला घाट चले गये।

महाराज जी की अमर वाणी है।

"Love, Love is God, Love Him, what is wanted is love, Blessed is he who can Love, Love, Love."

●●●

*पूर्व स्मारिका में प्रकाशित, लेखों के कुछ अंश

गुरु महाराज

- स्व. सुशीला जर्मनीदास

सन् 1953 में मैं गुरु महाराज श्री पुरुषोत्तमानन्द जी की शरण में गई। मुझे आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ और फिर बाद में गुरुमन्त्र का प्रसाद भी। वह मन्त्र जिसको जपने से मेरा सारा रोग दुःख दूर हो गया। उन दिनों मैं एक ऐसे उदर रोग से पीड़ित थी कि प्रतिदिन स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। सारे वैद्य, हकीम, डाक्टर और होमियोपैथ मेरा इलाज कर के हार चुके थे। इसलिये मुझे क्या मिला यह मैं ही जानती हूँ।

महाराज जी केवल काम की बात करते थे और वह भी बड़ी सूक्ष्मता से वरना मौन में विश्वास करते थे। यही दोनों बातें वे औरों को अपनाने के लिये कहते थे। कहते थे ''बोलना ही है तो अधिक समय तक धार्मिक पुस्तकों का सस्वर पाठ करो।'' विष्णु सहस्त्र नाम जितना अधिक मन से जपोगे उतना ही कष्ट निवारण होगा और यह बात सौ प्रतिशत सच है।

एक बार मैं अपने पति दीवान जर्मनीदास (प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक महाराजा के रचनाकार) तथा अपने भाई के साथ गुरु महाराज के दर्शन को पहुँची। मेरे साथ स्विट्जरलैण्ड के कुछ लोग भी थे। उनमें से एक ने पूछा ''साधु लोग जंगल में बैठकर क्या करते हैं?'' महाराज जी ने उत्तर दिया, ''वही साधना जिससे महात्मा गांधी ने बिना किसी हिंसा के हिन्दुस्तान आजाद करा दिया।''

●●●

मैं कैसे बची

- शान्ति मेहरोत्रा

मेरा परिचय महाराजजी से 1948 से है जब वे बाराबंकी में स्वर्गीय आनन्द वाटल के निवास स्थान पर पधारे थे। वाटल साहब और उनकी पत्नी से हमारे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उन्हीं के माध्यम से महाराजजी ने मुझको और मेरे पति को मन्त्र दीक्षा दी थी।

जनवरी 1954 में प्रयाग में महाकुम्भ पड़ा था। तब मैं अपनी सास, छोटी, बेटी, चाचा और चाची के साथ कुम्भ स्नान को गयी थी। मेले में व्यवस्था ठीक न होने के कारण बड़ी भगदड़ मची और अनेक लोगों ने भीड़ में दबकर अपने प्राण त्याग दिये थे। दुर्भाग्यवश मैं भी उस भगदड़ के चपेटे में आ गई। एक के ऊपर एक मेरे चाचा, चाची, सास और छाती में चिपकाये अपनी बेटी के साथ मैं धराशायी हो गई। जान बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। मैंने गुरुदेव को पुकारा 'बचाओ'। इतने में क्या देखती हूँ कि दो घुड़सवार बड़े सुन्दर घोड़ों पर सवार भीड़ को चीरते हुये आ गये और हाथ पकड़कर उन्होंने हम सबको बचा लिया। मैंने जब यह वृत्तान्त अपने पतिदेव को सुनाया तो उन्होंने इलाहाबाद के तत्कालीन जिलाधीश से मिलकर उनको धन्यवाद देना चाहा तो मालूम हुआ कि वहाँ घुड़सवारों का कोई भी प्रबन्ध नहीं था। यह तो कोई दैवी चमत्कार था।

इसके उपरान्त जब मैं वसन्त पंचमी को महाराज जी से इलाहाबाद में मिली तो उन्होंने देखते ही अपनी मनमोहक हँसी से कहा – 'बच गई!'

जय जय गुरुदेव!

●●●

गुरुदेव से सम्बन्धित अनुभव

- रामजी उपाध्याय

ब्रह्मलीन महर्षि पुरुषोत्तमानन्द वसिष्ठ गुहा, ऋषिकेश के बारे में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। फिर भी अपनी अनुभूतियों के बारे में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करता हूँ।

1951 के नवम्बर में मुझे संसार फीका लगने लगा। जितना मैं प्रयास करता इसे समझने के लिये उतना ही उलझता चला गया। क्या यह सच्चा है या झूठा यह बुद्धि से परे हो गया। मैं पटना में मजिस्ट्रेट था। गंगा के किनारे घर था। मैंने सोचा उतरी भारत के महर्षि गंगा के तट पर ही रहते थे। वह सबको जानती होगी। अतः उससे पूछने के लिये मैंने ठान लिया। प्रतिदिन रात 2 बजे मैं गंगा में खड़ा होकर उनसे पूछने लगा कि मेरे गुरुदेव महर्षि का पता बता दो। 15-20 दिनों के बाद गंगा माता पानी से ऊपर अर्ध विकसित दिखाई पड़ीं और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। घर लौटकर लेट गया। कुछ ही क्षण में भगवान शंकर आये अर्धस्वप्न में और कहा ऋषिकेश चलो। फिर वे गली में उतर गये। मैंने उठकर पीछा करने का प्रयास किया पर वे लुप्त हो गये। दूसरे दिन मैंने सरकार से चार महीने का अवकाश लिया और ऋषिकेश प्रस्थान कर गया। वहाँ स्वामी शिवानन्द महाराज का आश्रम मालूम था और वहीं गये। स्वामी जी से मुलाकात के बाद एक कमरा मिल गया। बाद में स्वामी जी ने बहुत प्यार दिया, दीक्षा दी, आसन प्राणायाम-ध्यान करने की विधि सिखायी और मैं गंगा स्नान-ध्यान आदि से तृप्त हो गया, फिर भी कुछ कमी रह ही गयी। मैं ध्यान में उस महर्षि को खोजता रहा जहाँ मैं पूर्णतः समर्पित हो जाऊँ।

एकदिन प्रातः स्नान के बाद जब मैं ध्यान में बैठा तो एक महर्षि, उजली दाढ़ी, जटा वाले एक गुफा के दरवाजे पर बैठे दिखाई पड़े। सामने जंगल था, गंगा बहती थी। बस मैं उठकर बिना आश्रम को सूचित किये गंगा के किनारे उत्तर की ओर चल पड़ा। दिन भर बिना कुछ खाये-पीये चलता रहा। शाम को एक आश्रम मिला, एक नवयुवक संन्यासी मिले। वहीं रुक गया। खाना मिला, रजाई मिली, सो गया। सुबह उठे संन्यासी जी से मिले और पूछा कि आपने संन्यास क्यों लिया। उन्होंने बताया कि गृहस्थी और संन्यास एक साथ नहीं चल सकते। इसलिए संन्यास ले लिया। फिर मैं गंगा के किनारे चल पड़ा। कुछ देर बाद एक बेड़ा के सहारे गंगा पार किया और ऊपर आकर सड़क मिली। चलते-चलते शाम हो गयी। देखा एक बोर्ड जिस पर लिखा था वशिष्ठ गुहा। वहाँ से नीचे रास्ता था। मैं उतर गया और गंगा की ओर चला। आखिर में उस महर्षि को देखा एक गुफा के दरवाजे पर अकेले समाधिस्थ थे। मैंने साष्टांग किया और वे हँस पड़े, और कहा आ गये? मैं बैठ गया। रात हो गई। और वहाँ कोई नहीं था। बगल के गुफा में मैं सो गया। सुबह दो तीन शिष्य आये और खाना बना। स्वामी जी के साथ सब लोगों ने खाना खाया। सभी शिष्य जो दो तीन ही थे, चले गये। मैं वहाँ से जाना नहीं चाहता था, और दूसरे गुफा में रहने लगा। स्वामी जी अकेले कभी गुफा में, कभी बाहर, केवल समाधि में रहते थे। बीच-बीच में ओम का उच्चारण करते थे। इस तरह 15 दिन बीत गये। गुरुदेव कहते थे मुझसे कि वे रोज ब्रह्म लोक जाते थे और लौट आते थे।

एक दिन सुबह जब गुरुदेव समाधि से निकले तो उन्होंने मुझे बिठा कर मंत्र दिया और समाधि करने की विधि बताई। बस उसी दिन से मैं खो गया। चार महीने बीत गये। मेरी छुट्टी समाप्त हो चली और मैं, लौट आया। गुरुदेव ने कहा आते-जाते रहना। मै साल में एक बार जाता था और नियम से अपने घर पर समाधि का प्रयास करता था।

एक दिन मैं बद्रीनाथ से लौटकर, जब गुफा में ठहरा था तो गुरुदेव ने मुझसे कहा कि कोई मुझे हरिद्वार में खोज रहा है। मैं चल पड़ा। शाम को हरिद्वार पहुँचा पर पता नहीं कहाँ किसको खोजूँ। कुछ देर बाद एक धर्मशाला मिला, उसमें घुस गये। वहीं मेरे लिये व्यग्र एक मित्र की जोड़ी मिली। वे लोग मेरे गुरुदेव से मिलने के लिये व्यग्र थे पर पता नहीं जानते थे। मैंने उन्हें गुरुदेव से दूसरे दिन मिला दिया। वे कृतार्थ हो गये।

गुरुदेव ने मुझे बुलाया, स्वस्थ लम्बा जीवन दिया और अमरत्व का बोध करा दिया।

गुरु कौन है

- डॉ. वीरेन्द्र कुमार शर्मा

1. जो सर्वदा प्रकाश में रहता है।
2. जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है।
3. जो अपनी आत्मा है,
4. जो संसयरहित है। (देखें उपदेशामृत)

यह आध्यात्मिक प्रकाश है जो कालान्तर में शरीर से बाहर निकलने लगता है और जिसको स्वायत्त करके गुरु शाम्भवी दीक्षा का अधिकारी बनता है। आचार्य शंकर ने लिखा है **''अत्रैव सत्वात्मनि, धी गुहायाम् अत्पाकृत आकाश उशत्प्रकाश।''** (विवेक चूड़ामणि देखें)

अव्याकृत आकाश में पूर्ण सत्य के प्रतिष्ठित होने पर बुद्धि के अन्दर ही एक विशेष प्रकार का प्रकाश होता है। इसे भौतिक आकाश का प्रकाश नहीं समझना चाहिए। सच्चे साधकों को बीच-बीच में प्रकाश की झलक मिलती ही है। परन्तु यहाँ जिस घटना का वर्णन किया जा रहा है वह भौतिक आकाश में एक आब्जेक्टिव प्रकाश था जिसका तीन व्यक्तियों ने साक्षात्कार किया। परन्तु उस प्रकाश द्वारा दिया गया संदेश उसी को मिला जिसको लक्ष्य करके वह प्रकाश प्रकट हुआ था।

घटना इस प्रकार है, स्वामी चैतन्यानन्द जी लखनऊ गये हुए थे। मैं, अफ्रीका से आये त्रिभुवन स्वामी जी और रामदास गुहा में रह रहे थे। राम दास अनपढ़ अवश्य था परन्तु उच्च कोटि का साधक था। एकादशी का दिन था। शाम की पूजा में राम नाम संकीर्तन होना था। मैं और रामदास गद्दी के पास बैठे थे। रामदास बेल पत्र बीन रहा था। त्रिभुवन जी ने कहा-''रामनाम संकीर्तन की पुस्तक श्री स्वामी चैतन्यानन्द जी के कमरे में बन्द है।'' इस पर मैंने कह दिया कि कोई बात नहीं-सुन्दर काण्ड का पाठ कर लिया जायेगा। मेरे मस्तिष्क में रामनाम संकीर्तन का एक श्लोक उठ आया था।

''यत्र-यत्र रघुनाथ कीर्तनम् तत्र-तत्र कृतमस्तकांजलिम्।
वाष्प वारि परिपूर्ण लोचनम् मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।।''

''जहाँ-जहाँ रघुनाथ का कीर्तन होता है वहाँ-वहाँ हाथ जोड़कर माथे पर रखे हुये और आँखों में आँसू भरे हुये श्री हनुमान जी उस कीर्तन को सुनते हैं।'' आखिरकार गद्दी पर बैठे हुये श्री महाराज हम लोगों के व्यापार को देखते हैं। त्रिभुवन स्वामी ऊपर के मन्दिर में पूजा करने चले गये। मैं आँख बन्द कर ध्यान कर रहा था। इतने में रामदास ने कहा-''ये देखो शर्मा जी बेलपत्र में चार पत्ते हैं।'' मैंने उपेक्षा के भाव से कहा- ''हाँ ऐसे हो जाता है।'' पुनः रामदास ने कहा ''मैंने तो पाँच पत्ते का बेलपत्र देखा है जो मुझसे पुरहरानन्द जी ने ले लिया। क्योंकि उन्होंने कहा कि ये पंचमुखी महादेव हैं।'' इस पर मैंने कहा - ''रामदास तुम जानते हो कि शिव जी पर बेलपत्र क्यों चढ़ाया जाता है?'' रामदास बोले- ''मैं नहीं जानता'' रामदास के सौम्य स्वभाव से मैं पहले ही परिचित था। मैनें उनसे कहा-''बेलपत्र में तीन पत्ते होते हैं और शिव जी के तीन आँखें होती हैं। जैसे नकली आम को देखकर असली आम की याद आ जाती है। उसी प्रकार बेलपत्र से शिव जी का पुनः स्मरण किया जाता है।'' रामदास खुश हो गया और कहा-''सत्संग की बड़ी महिमा है।'' मैंने उसका मन रखने के लिये पूछ लिया - ''क्या तुम्हे सत्संग की महिमा की कोई बात याद है।'' रामदास ने कहना शुरु किया विश्वामित्र व वशिष्ठ जी का झगड़ा चलता था। एक दिन वसिष्ठ जी को मारने के लिए विश्वामित्र जी उनके घर के पीछे छिप गये। चाँदनी रात थी। वसिष्ठ जी की पत्नी उठी और चाँदनी को देखकर कहा-''आज तो बहुत अच्छी चाँदनी खिली हुई है।'' वसिष्ठ जी ने कहा-''जैसे विश्वामित्र का यश सारे विश्व में फैल रहा है।'' उनकी पत्नी ने कहा -''फिर भी आप उन्हें ब्रह्मर्षि नहीं कहते हो।'' वसिष्ठ जी ने कहा ''समय आने पर सब कुछ होता है।'' यह सुनकर विश्वामित्र जी का हृदय ग्लानि से भर गया। और उन्होंने निश्चय किया कल ही जाकर इन महापुरुष का सत्संग करूँगा। और ऐसा ही किया।

वसिष्ठ जी ने कहा - ''अच्छा हुआ तुम आ गये। दोनो मिलकर नारायण जी का सत्संग करें।'' दोनों मिलकर क्षीर सागर चले गये। नारायण जी ने कहा -''यह तो मेरा विश्राम स्थल है। जहाँ मेरा दूसरा रूप अनन्त के रूप में पृथ्वी को धारण किये

है। वहीं जाओ।'' दोनों अनन्त के पास चले गये। अनन्त बोले–''तुममें से कोई एक पृथ्वी को धारण करे तब मैं प्रवचन करूं'' विश्वामित्र ने अपना कन्धा लगा दिया। थोड़ी देर बाद ही इस भार से नीचे दबने लगे। और चिल्लाये–मेरा बोझ हल्का किया जाय। इस पर अनन्त ने वसिष्ठ जी से कहा –''वसिष्ठ जी तुम इस पृथ्वी को धारण करो।'' वसिष्ठ जी ने अपना ब्रह्मदण्ड पृथ्वी के नीचे लगा दिया। पृथ्वी टिक गयी। यह देख कर विश्वामित्र का दर्प गलित हो गया। इसके बाद विश्वामित्र का वसिष्ठ जी से कोई झगड़ा न हुआ।

रामदास बेलपत्र बीनने लगा। और मैं ध्यान करने लगा। थोड़ी देर बाद रामदास ने कहा–''शर्मा जी, शर्मा जी, यह क्या हो गया।'' मैंने आँख खोली तो देखा–महाराज की गद्दी के सामने एक प्रकाश का वृत्त बना हुआ है जैसे साइकिल का रिम होता है। इतने में त्रिभुवन जी मन्दिर से पूजा करके गद्दी की ओर आ रहे थे। रामदास ने त्रिभुवन स्वामी से कहा–''यह क्या है'' त्रिभुवन जी ने अपने पैर से उस प्रकाश को रगड़कर देखना चाहा तो प्रकाश लुप्त हो गया। त्रिभुवन जी ने सुन्दर काण्ड पढ़ना शुरू किया। कुछ दोहे पढ़कर बन्द कर दिया।

तब मैंने कहा–

''तात स्वर्ग–अपवर्ग सुख, धरिउ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग।।''

यहाँ तक पाठ करें। मैंने रामदास से कहा कि वे उस प्रकाश के बारे में विचार करें। मैं भी विचार करता हूँ। और मैं इस बारे में विचार करने लगा।

जब मेरी दीक्षा श्री महाराज जी से हुई थी तब भी मैंने अपने अन्दर से प्रकाश की तरंगें उठती हुयी महसूस की थी और मेरा हृदय असीम आनन्द में डूब गया था। रामायण के एक पात्र हनुमान की कल्पना एक पशु की कर ली गयी है। साथ ही रामायण में यह भी लिखा है कि हनुमान जी ज्ञानियों में अग्रगण्य व बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं जो एक पशु में असम्भव है। मेरी आर्य समाज की शिक्षा दीक्षा, एवं महाराज की दीक्षा का संस्कार, इन्होनें उस प्रकाश को हनुमान मानने से अस्वीकार कर दिया। तब प्रश्न उठा कि क्या यह महाराज जी का प्रकाश था। मैं इसी ऊहापोह में रात को सो गया। प्रातः 3.30 मेरी आँख खुली तो मेरे मस्तिष्क में एक विचार कौंध गया। मैने पास में रखे तैत्रेय उपनिषद को पढ़ना शुरू कर दिया। मेरे प्रश्न का समाधान हो गया।

आखिरकार हनुमान है कौन, जिसके दो जबड़े उभरे हुए हों। उपनिषद में लिखा है कि आचार्य ही ऊपर का जबड़ा (स्थिर) हनु है। हिलने वाला नीचे का जबड़ा शिष्य है। विद्या गुरु–शिष्य को मिलाती है। गुरू का प्रवचन ही समाधान है या संधान है। निश्चय ही यह प्रकाश श्री महाराज का था।

हनु शब्द में नु शब्द उसी अर्थ का द्योतक है जो विष्णु; भानु; कृषानु में है। हकार तान्त्रिक बीज है और इस 'हकार' को समझने के लिये आचार्य शंकर का रचा हुआ प्रपंच–सार पढ़ना चाहिये। हकार व आकार दोनों कण्ठ से बोले जाते हैं। दोनों सूक्ष्म रूप में हृदय में स्थित हैं। हृदय में रहते हुये इन्हें संकृत तथा कण्ठ से बोलने पर इन्हें विकृत कहते हैं। दोनों के मिलाने से अहं बनता है जो सृष्टि का बीज अहंकार कहलाता है और इस अहं तत्व के विलीन होने पर सर्वव्यापी हकार हो जाता है।

तत्वातीतः परोसाक्षी सर्वानुग्रह विग्रहः
अहं आत्मा परोहल् स्याम् इति शम्भुः तिरोदधे।।

अहंकारी जीवात्मा परमात्मा रूपी हकार में लुप्त हो जाती है। इसी लिये कहा गया है–**''गुरुवक्त्रं शून्य स्पन्नं हकार उच्चयेत बुधैः''**

आचार्य का मुख ही हजार कहलाता है। जब आचार्य, सूर्य, प्रकाश, और आकाश तीनों का प्रतिनिधि बनकर ज्ञान के वचन बोलता है तो यही हकार की अन्तिम स्थिति है। परिणामतः आचार्य ही हनुमान है।

बात यहीं समाप्त नहीं हो गयी, मैं प्रातः काल का ध्यान करने गंगा के किनारे चला गया। दस बजे जब वहाँ से लौटा तो मैने देखा–स्कूल के दो मास्टर गद्दी के सामने बिना किसी के बुलाये सुन्दर काण्ड का पाठ कर रहे हैं। जो उन्होंने अन्त तक पढ़ा। निश्चित ही यह सब महाराज की प्रेरणा थी। सुन्दर काण्ड का पाठ करने वाले अध्यापक श्री सुरेन्द्र दत्त कुलियाल व रमेश चन्द्र मिश्र थे। और मैं अपने विचार में आश्वस्त व दृढ़ हो गया।

सद्गुरु कौन है? इसके बारे में एक व्यक्तिगत घटना दी जा रही है। इस घटना को समझने के लिये लेखक की मानसिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। मेरी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा आर्यसमाज के गुरुकुल में हुई। आर्यसमाज रूढ़िवादी परम्पराओं को ढोंग मानता है और एक सुधारवादी दृष्टिकोण को प्रगति का एक आवश्यक अंग मानता है। यद्यपि मेरी दीक्षा बिना किसी कर्मकाण्ड और औपचारिकता के हुई थी और महाराज जी ने अपने मुँह से ''ओम् और तत्त्वमसि'' वाक्य भी बोला। परन्तु जब मैं पहली बार गुफा आया तभी यह घटना घटी थी।

प्रातःकाल नौ बजे के लगभग महाराज अपनी गद्दी पर आकर बैठ गये और ध्यान करने लगे। ध्यान की गहराई में महाराज का शरीर आगे की ओर झूल जाता था। जैसा कि एक सामान्य व्यक्ति समझेगा मैंने भी इसे 'नींद में ऊंघना ही समझा।' यह तो मैंने बहुत कालान्तर में जाना कि यह योग निद्रा की स्थिति थी। थोड़ी देर बाद दो तीन ब्रह्मचारी भी आकर बैठ गये, उन्होंने नित्य पूजा के क्रम में सबसे पहले निम्नलिखित श्लोक पढ़ा :-

''गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।''

मैंने इस श्लोक को सुनकर अपने मन में सोचा कि यह सीमा का अतिक्रमण और ढोंग है कि किसी भी हाड़-मांस के व्यक्ति को साक्षात् ब्रह्म कहा जाये। महाराज ने तत्काल अपनी आखें खोलीं और मेरी तरफ पैनी निगाह से देखा जिससे मैं अन्दर तक सहम गया। महाराज ने तत्काल कहा 'दक्षिणामूर्ति' और शिष्य लोग फौरन दक्षिणामूर्ति स्त्रोत पढ़ने लगे। यह स्त्रोत आदि शंकराचार्य का रचा हुआ है जो दक्षिणामूर्ति गुरु को समर्पित है। इसके प्रथम दो श्लोक क्रिया पक्ष से जुड़े हुए हैं। श्लोक इस प्रकार है :-

''यस्यैव स्फुरणं सदात्मकम सत्कल्पार्थगं भासते।
साक्षातत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ।
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।''

भावार्थ :- जिस गुरु ने अपना स्फुरण, जो कि सत् स्वरूप है, शिष्य के असत् कल्प शरीर में डाला है तथा जिसने साक्षात् 'तत्त्वमसि' कहकर शिष्य को अन्तरिम स्थिति तक पहुँचाया है और कालान्तर में जिस तत्त्व का साक्षात्कार करके शिष्य जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है, उस दक्षिणामूर्ति को मेरा नमस्कार।

दीक्षा के समय 'तत्त्वमसि' वाक्य तो महाराज ने बोला ही था, परन्तु इसके बाद भी मेरे एक प्रश्न के उत्तर में कहा था "It takes you at once at goal yau have to achieve it yourself." यह तुम्हें तत्काल लक्ष्य तक पहुँचा देता है, यह अवस्था तुम्हें स्वतः प्राप्त करनी है। जैसे ही शिष्यों ने यह तीसरा श्लोक बोलना शुरू किया इसके अर्थ के साथ-साथ ही मेरे मानस पटल पर अतीत की दोनों घटनायें भी उतर आयीं और पूरे घटनाक्रम का सामंजस्य करते हुए मैंने मन ही मन स्वीकार किया कि तत्त्वमसि की तात्त्विक दीक्षा देने वाला सद्गुरु सर्वदा तत्त्व ही होता है उसको हाड़ मांस का शरीर मानना हीन बुद्धि का परिचायक है।

एक हाईकोर्ट के जज द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'तुरीय' अवस्था क्या है? महाराज ने कहा "I am always in TURIAM" मैं सर्वदा ही तुरीय अवस्था में रहता हूँ। लेकिन ऐसे कितने सद्गुरु होंगे या हैं? - यह प्रश्न बना ही रहता है।

उपरोक्त घटना में 'दक्षिणामूर्ति' और 'योगनिद्रा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। 'विश्वामित्र' शब्द की तरह से 'मध्यपद' में आकार ''ऋषित्त्व'' का वाचक है। वांग का प्रतिद्वन्दी 'दक्षिण' शब्द सभी शक्ति को अन्दर खीचने के अर्थ में है क्योंकि 'वांग' का अर्थ 'वमन' या चीज को बाहर निकालना है। यह एक आन्तरिक क्रिया का वाचक शब्द है जिसकी परिणति 'निर्विकल्प समाधि' में होती है। आचार्य शंकर ने 'योगनिद्रा' के विषय में तीन श्लोक दिये हैं जो निम्नवत् हैं :-

''प्रत्यक विमर्शतिशयेन पुंसम्
प्राचीन गन्धेषु पलायितेषु
प्रादुर्भवेत काचित - अजाऽयनिद्रा
प्रपंच चिन्तां परि वर्जयन्तीह।।''

भावार्थ :- जब योगी केवल अर्न्तमुखी रहने लगता है तो उसके जन्म-जन्म के संस्कारों की वासनायें जल जाती हैं। योगी में ''चैतन्य निद्रा'' का प्रादुर्भाव शुरू हो जाता है और सांसारिक चिन्तायें समाप्त हो जाती हैं।

''विच्छिन्न संकल्प विकल्पे मूले
निःशेष निर्मूलित कर्म जाले।
निरन्तराभ्यास नितान्त यदा
स्त योगिनि त्रृम्यति योगनिद्रां।''

भावार्थ :- जब संकल्प विकल्प उठाकर फेंक दिये जाते हैं और कर्मजाल को भी तोड़ दिया जाता है तब योगी दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करते करते 'योगनिद्रा' की स्थिति में पहुँचता है।

''विश्रान्तिम् - आसाद्य तुरीयकल्पे
विश्वादि-अवस्थान्नितयो परिस्थे।
संविन्मयी कामपि सर्वकालम्
निद्रां सखे! निर्विश निविकल्पाम्।।''

भावार्थ :- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न जो चौथी अवस्था है योगी उसी में विश्राम करता रहता है। हर संयमपूर्ण चैतन्य तत्त्व में प्रतिष्ठित रहता है। यही 'निर्विकल्प निद्रा या निर्विकल्प समाधि कहलाती है।

कहने की आवश्यकता नही है दस पन्द्रह मिनट ध्यान के बाद ही महाराज इस अवस्था में पहुँच जाते थे।

प्रस्तुतकर्ता : **श्रवण कुमार पाण्डे**
प्रवक्ता, राजकीय इन्टर कालेज
गुलर डोगी

श्रद्धा सुमन

- डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

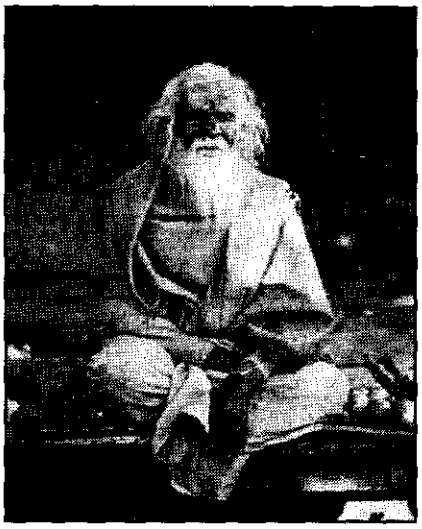

आदरणीय श्री गुरुमहाराज के प्रथम दर्शन मुझे शुक्ला घाट पर हुये थे। उस समय मेडिकल कालेज में मेरा अन्तिम वर्ष था। महाराज जी में अद्भुत आकर्षण व तेज था प्रथम बार में ही वे परम हितैषी लग रहे थे।

कुछ समय पश्चात् उनके आश्रम वसिष्ठ गुहा जाने पर श्री सद्गुरु महाराज ने मुझे दीक्षा प्रदान करने की महान कृपा की।

गुरुमहाराज के समय में मेरी पोस्टिंग बड़े अस्पताल मलिहाबाद में थी। एक बड़ा फार्म मेरे नाम गोला गोककरणनाथ से कुछ दूरी पर एक गाँव के पास था। पिता के स्वर्गवास होने पर उसे देखने वाला कोई न था। फार्म के निकालने की कोशिश करने पर भी कुछ न हो सका। तब मैंने गुरुमहाराज को इसके विषय में एक पत्र भेजा। उनके उत्तर आते ही दो-तीन सरदार मेरे पास फार्म हेतु आ गये। गुरु महाराज की असीम कृपा से फार्म हेतु मेरी बड़ी चिन्ता सरदारों के आने से दूर हो गयी।

एक बार गुरुमहाराज जी शुक्ला घाट लखनऊ में अधिक अस्वस्थ हो गये। उनके भक्त डॉ. आर.सी. शुक्ला उनका उपचार कर रहे थे। उन्होंने बताया कि उन्हें मेडिकल कॉलेज के बड़े डॉक्टर कुँवर साहब को भी दिखाया गया है और जब डॉ.कुँवर साहब उन्हें उपचार हेतु देख रहे थे तो महाराज जी ने हँसते हुए कहा था 'I am Doctor of Doctors जिसका समर्थन डॉ. कुँवर साहब ने मुस्कुराते हुए किया। गुरु महाराज को पैरों के जोड़ों की तकलीफ बचपन से थी आगे उसका कुछ प्रभाव हृदय पर पड़ा बताया जाता था। मैंने भी उपचार में सहायक होने हेतु अवकाश लिया था। उन्हें एन्टिबायोटिक के इंजेक्शन लगाये जाने के साथ-साथ दवाईयाँ भी दी जा रहीं थीं। उनको डॉ. शुक्ला जी Complete rest करवा रहे थे। लोगों को दूर से ही दर्शन करना था। यह महाराज जी को कदाचित् रुचिकर न था। अतएव थोड़ा सा ही स्वस्थ होने पर कमजोर होते हुए भी अपने आश्रम वसिष्ठ गुहा जाने को तैयार हो गये। किसकी हिम्मत थी जो उन महान आत्मा गुरु महाराज जी को रोक सके।

चारबाग स्टेशन पर हम कुछ लोग, जिसमें डॉ. देवकी कुट्टी जी भी शामिल थीं, सहारा देते ले जा रहे थे। वे प्रसन्न चित्त चले जा रहे थे। ऐसा लगता था उन्हें हम सब सहारा नहीं दे रहे थे वरन् वे हम सबको इस सेवा का सौभाग्य दे रहे थे।

अन्तिम बार लखनऊ आने पर गुरु महाराज गोमती तट के शहंशाह आश्रम घाट पर रुके थे। वहाँ भागवत पाठ भी श्री जानकीरमण जी ने किया था।

सद्गुरु नाम न भूलिये
सद्गुरु ही बस तोर
सद्गुरु नाम से भागिहैं
मन के सारे चोर
मैं को अपना सब कहें
मैं है तोर न मोर
मैं वाही को होत है
जाके मन चितचोर
सत्गुरु शरण में जाइये
तजि माया और मोर
सद्गुरु ही पहुँचाइहैं
भवसागर की ओर

गुरु चरण

अब आ गये हैं स्वामी, चरणों में हम तुम्हारे
हमको शरण में ले लो, हम आसरे तुम्हारे
भूलें न एक क्षण भी, हम नाम को तुम्हारे
सब कुछ तो बस तुम्हीं हो, अन्तर में तुम हमारे
जीवन सफल हुआ है, पाके दरस तुम्हारे
छूटे अहम सभी के, मुस्काने से तुम्हारे

सद्गुरु शरण

सद्गुरु शरण चलो मेरे भाई
तजि मन की सारी चतुराई
ज्ञान मान धन सुन्दर काया
हर पल तोहे बौराई
अहम छोड़ तेरो प्राण पखेरू
तन पिंजड़ा तजि कब उड़ जाई
साथ लगे तोरे मीत सनेही
कठिन समय जइहैं कतराई
कृपा दृष्टि सद्गुरु की पाके
मिलने को का रह जाई
सद्गुरु ब्रह्म छुड़ावें माया
सद्गुरु ध्यान मिलें रघुराई

भजन

गुरु नाम की बरसे बदरिया
भीग ले, मन की खोल किवड़िया
बरसे बदरिया जाये अंधेरिया
बहि जायेगी तेरी पाप गठरिया
तू काहे चिन्ता करत बावरिया
क्षण-क्षण सद्गुरु लेत खबरिया
भर ले तू अन्तर की गगरिया
आनन्दमय हो तेरी सारी उमरिया

भजन

गुरुदेव तुम्हारे चरणों में हम शीश झुकाये बैठे हैं
हम भूल के सब कुछ हे स्वामी
तुमको अपनाये बैठे हैं
संसार में सबके साथ हैं हम
मन से गुरु धाम में बैठे हैं
हे नाथ कृपा सब आपकी है
हम सब कुछ पाये बैठे हैं
हो ब्रह्मा विष्णु महेश तुम्हीं
इस ज्ञान को पाये बैठे हैं

भजन
अन्तर्यामी सद्गुरु स्वामी

हम ढूंढ रहे थे ईश्वर को
उस राह में श्री गुरुदेव मिले
हँसकर बोले क्या खोज रहे
हम बोले अब हम क्या खोजें
हमको तो स्वयं भगवान मिले
अन्तर्यामी सबके स्वामी
हमको तो दीन दयाल मिले
बिन मांगे सब कुछ दे डाले
ऐसे गुरुदेव महान मिले

●●●

महापुरुषों, महापर्वतों, महानदियों, महातीर्थों इत्यादि में तुम्हारा मन लग जायेगा तो तुम भी महान हो जाओगे। जैसे भी हो मन को विशाल बनाओ।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

'जब मैं फफक कर रो पड़ा'

- महेन्द्र 'अकेला'

वर्ष 1957 फागुन मास की पूर्णिमा रेल के सफर के बाद ऋषिकेश से मेरी बस वसिष्ट गुहा के लिए चल रही थी। उन दिनों एकलमार्ग के आने-जाने की व्यवस्था थी। चलने की हरी झण्डी मिलने पर गढ़वाल मोटर्स की बस टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होती हुई आगे बढ़ रही थी। एक ओर हिमालय की ऊँची पहाड़ियाँ तो दूसरी ओर गहरी खाईं जिसमें पतित-पावनी माँ गंगा मानो नीली चुनरी ओढ़े टेढ़े-मेढ़े रास्ते से बह रही थीं। उन दिनों वसिष्ठ गुहा आश्रम पर उतरने के लिए सीढ़ियाँ नहीं बनी थीं। किसी प्रकार चट्टान एवम् पेड़ की जड़ों को पकड़कर नीचे उतरा जाता था। बिजली और नल की कोई व्यवस्था न थी। रोशनी के लिए रात में एक टिमटमाती लालटेन गुफा के मुख्य द्वार पर जला करती थी। जहाँ आज विशाल मन्दिर है वहीं पर एक फूस की बड़ी झोपड़ी थी जिसमें पुआल बिछा रहता था और उस पर दरी। आगन्तुकों के लिए कुछ भक्तजनों के सहयोग से तीन कमरे का एक गेस्ट रूम बनवा दिया गया था। इसी गेस्ट रूम के ऊपर एक छोटा सा कमरा बना था जो आज भी है, जिसमें गुरु महाराज रह रहे थे। उन दिनों आश्रम में सर्वस्वामी कालिकानन्द, रामानन्द वीरानन्द, सेवानन्द, भूमानन्द जी तथा दो ब्रह्मचारी हरी और पीताम्बर जी रहा करते थे। तीन चार गाय तथा एक कुतिया पप्पी भी आश्रम में रहती थी। उन दिनों एक आस्ट्रेलियन युवक 'एलेन' भी आया हुआ था। आश्रम में सभी लोग अपनी जिम्मेदारी बखूबी निभाते थे। पप्पी अपनी जिम्मेदारी का एहसास करते हुए पूरे खेत में पहरा दिया करती थी। महाराजा टिहरी गढ़वाल द्वारा भेंट की गयी पप्पी को गुरु महाराज बहुत प्यार देते थे और अपने भोजन का शेष भाग उसे अपने हाथों से खिलाते थे।

मैं अपने माता-पिता के साथ लगभग 12 बजे गुफा पहुँच गया था। पहुँचते ही गुरु महाराज के दर्शनों के लिए छत पर गया। दण्डवत करने के उपरान्त मैं भाव-विभोर हो गया और कुछ कह न सका। महाराज जी ने मुस्कराते हुए हम लोगों की कुशल क्षेम पूछी। 'रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई।' मैं उत्तर देकर चुप हो गया था। कुछ देर बाद महाराज जी ने पुकारा - 'पीताम्बर'। मैंने देखा गुफा के मुख्य द्वार पर खड़ा छरहरे बदन का युवक छलाँग लगाता हुआ ऊपर आया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। 'जी महाराज जी'। 'इनके रहने की व्यवस्था कर दो और भोजन कराओ।' आज्ञा पाकर हम लोग नीचे नए गेस्ट रूम में रुके। हम लोग वहाँ चार-पाँच दिन रहे और देखा कि वह छरहरे बदन का युवक 'पीताम्बर' हर समय गुरु-महाराज की सेवा में लगा रहता है। 18-19 वर्ष का यह युवक आखिर कौन है? कहाँ से आया है? यह जानने की उत्सुकता बनी रहती थीं। उनसे पूछने पर वह कुछ नहीं बताते थे और हँसकर दूसरी ओर चले जाते थे। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि वे केरल के हैं तथा वहीं के श्री बालानन्द स्वामी के साथ 1953 के उत्तरार्द्ध में गुफा आए थे।

दूसरे दिन होली थी महाराज जी ने थोड़ा सा अबीर एक पत्ते में मँगवाया और आश्रम के सभी लोगों को बुलाकर बारी-बारी से अबीर अपने हाथों से लगाया। मेरी माँ उस समय भोजन बना रही थीं। वे भी दौड़ी हुयी आयीं और सद्गुरु भगवान के हाथों से अबीर लगवाने की सुखद अनुभूति प्राप्त की। हम लोगों ने भी अबीर की एक बिन्दी महाराज जी के चरणों में लगा दी थी। चार दिनों तक गुरु महाराज के सानिध्य में रहने का वह सुखद क्षण आज भी मुझे स्पष्ट याद है।

मेरे माता-पिता भोजनोपरान्त महाराज जी के समीप गए। वे छत पर धूप सेंक रहे थे। मैं भी समीप बैठा था। मेरी माता ने अवसर पाकर मेरे विवाह का प्रस्ताव महाराज जी के सामने रखा। वे मुस्कराने लगे और मेरी ओर देखने लगे और मैं माँ की ओर। कुछ देर बाद महाराज जी ने अनुमति दे दी ओर मुझे गृहस्थ आश्रम के बारे में कुछ बातें बताने लगे। महाराज जी की अनुमति से माता-पिता बहुत प्रसन्न थे किन्तु मैं शीघ्र विवाह नहीं करना चाहता था क्योंकि आर्थिक दृष्टि से मैं बहुत कमजोर

था। गुफा से लौटने के उपरान्त मुझे कुछ ही माह बाद वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया गया। इसी बीच मेरे मकान मालिक घर छोड़ने के लिए विवश करने लगे। अतः कठिन परिस्थितियों से गुज़रते हुए एक छोटी सी जमीन खरीदकर उसमें एक कमरा बनवाकर रहने के लिए उपक्रम करने लगा। नयी नौकरी थी अतः कार्यालय से कोई लोन भी नहीं मिल सकता था। किसी प्रकार वहीं के एक सहकारी समिति से रु. 1500/- का लोन मिला और उसी से मकान बनवाने का प्रयास आरम्भ कर दिया। अक्सर यह चिन्ता बनी रहती थी कि इतने कम रुपयों में कैसे दो कमरे रहने लायक बन सकेंगे। मुझे चिन्तित देख मेरी माँ ने अपना कुछ संचित धन मुझे घर में लगाने के लिए दिया।

अप्रैल 1953 का महीना था दो कमरे धीरे-धीरे बन रहे थे। एक दिन जब मैं कार्यालय में काम कर रहा था तभी एक पोस्टमैन मेरा नाम पुकारता हुआ अनुभाग में दाखिल हुआ। 'महेन्द्र बाबू कौन हैं?' अनुभाग के सभी कर्मचारियों की निगाहें मेरी ओर केन्द्रित हो गयीं और मैं उत्सुकता से अपने स्थान पर खड़े होकर अपनी उपस्थिति की जानकारी उसे दे रहा था। वह मेरे समीप आया और बोला 'आपका मनीआर्डर है।' मेरे मन में मामा की याद आयी और सोचा कि उन्होंने ही यह मनीआर्डर भेजा होगा क्योंकि वे यदा-कदा दस-बीस रुपए भेज दिया करते थे। इस बीच पोस्टमैन ने मनीआर्डर फार्म निकालकर हस्ताक्षर करने के लिए आगे बढ़ाया तभी मैंने पूछ लिया कि कहाँ से मनीआर्डर आया है? - 'वसिष्ठ गुहा से'? इतना सुनते ही मैं गुरुमहाराज की कृपा को सोचकर रोमांचित हो फफक कर रो पड़ा। कितनी महान कृपा थी उस ब्रह्मवेत्ता की जो मेरी आन्तरिक चिन्ता को देखकर दया कर रहे थे। वह रु. 500/- का मनीआर्डर था। मैंने एक क्षण में सोच लिया कि इस रुपए को वापस कर दूँ किन्तु सद्गुरु का प्रसाद समझकर उसे ग्रहण कर लिया। मुझे रोता देख सेक्शन के सभी कर्मचारी आश्चर्यचकित थे और वह पोस्टमैन भी। 'क्या बात है' एक साथ सभी पूछने लगे। 'कुछ नहीं' और आँसू पोछकर मैंने मनीआर्डर फार्म पर हस्ताक्षर कर दिए। पोस्टमैन ने मुझे रु. 500/- तथा कूपन फाड़ कर दिया जो मेरे पास सुरक्षित है — 'My dear boy, I am sending this money for your building. Please accept it'. - Purushottamanand। उस धन को मैंने मकान में लगा दिया और जैसे बहुत बरक्कत हो गयी। दो कमरे तैयार हो गए ओर हम लोग 1958 के गंगा दशहरा से वहाँ रहने लगे।

गुरु महाराज की कृपा मुझ पर ही नहीं अपितु उनके सानिध्य में आने वाले सभी शिष्यों को प्राप्त होती रही है।

'पीताम्बर जी!' आखिर कौन हैं ये पीताम्बर जी? जो सदैव गुरु महाराज की सेवा में आगे-पीछे लगे रहते हैं। महाराज जी के चरणों में अटूट श्रद्धा एवम् समर्पण को देखकर सभी की दृष्टि उन पर केन्द्रित रहती थी। अपने विचारों में दृढ़ उस मौन साधक को सभी नमन करते थे। मार्च 1959 में 'पीताम्बर जी' के मन में एक प्रेरणा उठी कि वे कैलाश मानसरोवर दर्शनों के लिए जायें। फिर क्या था महाराज जी से अनुमति लेकर वे पैदल ही चल पड़े। रास्ते के लिए कुछ होम्योपैथिक की गोलियाँ तथा चाय बनाने के लिए छोटा सा एक पात्र रख लिया कई दिनों तक पैदल चलने के उपरान्त जब वे भारत-तिब्बत सीमा को पार करके तिब्बत की ओर बढ़ रहे थे तो वहां कुछ अनपेक्षित घटनाएं घटीं। पीताम्बर जी अपनी योग्यता तथा गुरुश्रद्धा से ही इस विपदा से उबरे। यह घटना पीताम्बर जी के दृढ़ निश्चय एवम् चैतन्यता का प्रतीक है। अपने कार्य में वे सदैव चैतन्य रहते थे। संभवतः इसी कारण गुरु महाराज जी ने उनका नामकरण 'चैतन्यानन्द जी' के रूप में किया। कैलाश पर्वत की अधूरी यात्रा के बाद पीताम्बर जी गुफा में महाराज जी की सेवा में पुनः लग गए। 13 फरवरी, 1961 को महाशिवरात्रि की रात्रि थी, गुरु महाराज अपना शरीर छोड़ने जा रहे थे। इसकी सूचना उन्होंने उस समय गुफा में उपस्थित सभी लोगों को दे दी थी। उस भयंकर तूफान की आधी रात को गुरु महाराज ने इस पंचतत्व से निर्मित शरीर को छोड़ दिया। उस समय उनके समीप पीताम्बर जी थे तथा महाराज जी के ब्रह्मलीन होने के समाचार से गुफा के साथ-साथ गुलर डोगी और ऋषिकेश तक हाहाकार मच गया। कहते हैं जब कोई पिता मरने लगता है तो अपने सबसे प्रिय पुत्र को अपना संचित धन दे देता है। इसी प्रकार सन्त भी अपने सबसे प्रिय शिष्य को अपनी संचित तपस्या में से कुछ दे देता है। पीताम्बर जी अब स्वामी चैतन्यानन्द जी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। जिस प्रकार से भृंगी किसी कीट को पकड़कर उसे अपना स्वरूप प्रदान कर देता है उसी प्रकार महाराज जी ने अपने तेज से उन्हें आपूरित कर दिया।

●●●

वसिष्ठ गुहा के गुरुदेव–कुछ संस्मरण*

- टी०आर. श्रीनिवासन

मेरे गुरुदेव के साथ मेरे घनिष्ठ अनुभवों के स्मरणमात्र से ही मेरे सारे शरीर में एक अनिर्वचनीय आनन्द की लहर दौड़ जाती है। अनन्त महिमायुक्त मेरे गुरुदेव के चरण कमलों में मेरे शत–शत प्रणाम हों।

वर्ष 1952 की बात थी, कई वर्ष रामकृष्ण मठ मद्रास के कई महात्माओं के सत्संग के प्रभाव से तथा श्रीरामकृष्णदेव के साहित्य और अध्यात्म सम्बन्धी कई ग्रन्थों के अध्ययन हेतु मेरे मन में यह बात स्थिर रूप से बैठ गयी कि किसी भी समय मेरी मृत्यु हो सकती है और उसके पहले ही आत्मसाक्षात्कार के लिये पूर्णरूप से प्रयास करना चाहिये। इस विचार के फलस्वरूप मैं अपनी नौकरी से (विद्यालय में शिक्षक) स्वेच्छा से समय से पूर्व ही सेवानिवृत्त हो गया। शायद 1952 जून या जुलाई का महीना था। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं रामकृष्ण मठ में ही शामिल हो जाऊँगा और क्रमशः संन्यासी बन जाऊँगा। इसी बीच मन में स्वामी विवेकानन्द जी का एक प्रवचन स्मरण में आया जहाँ उन्होंने कहा था कि श्रीशंकराचार्य के मतानुसार भगवान की कृपा उपलब्ध करने के लिये तीन चीजों की आवश्यकता है:– मनुष्य जन्म, महापुरुषों का संश्रय और मुमुक्षत्व। तब से श्री रामकृष्ण (ठाकुर) तथा माँ शारदा से दिनरात प्रार्थना करने लगा कि 'मुझे एक सद्गुरु से मिलवाइये।' मैं तो मद्रास में रामकृष्ण मठ अकसर जाता रहता था। वहाँ एक दिन शाम को एक अपरिचित स्वामीजी महाराज से भेंट हुई। उनको प्रणाम करके उनका परिचय मैं पूछ बैठा। उन्होंने उत्तर दिया – 'स्वामी पुरुषोत्तमानन्द, हिमालय से'। कुछ ही क्षणों में मेरे अन्दर एक प्रतीति हुई कि 'ये महान् हैं' वे कुछ पोस्ट कार्ड, लिफाफे चाहते थे। मैंने उनको आफिस में ले जाकर लिफाफे आदि दिलवाये और उसकी कीमत अपनी जेब से चुकायी। महाराज ने मेरी कमीज़ की जेब की तरफ इशारा करते हुए कहा था 'मेरा बटुआ इधर है'। वहाँ से मैं उनको मठ के बड़े पुस्तकालय में ले गया। अन्दर प्रवेश करते ही पुस्तकों की ओर नज़र दौड़ाते हुए महाराज ने कहा – 'क्या इसके लिये इतनी सारी किताबें।' उस दिन रात को स्वामीजी जब मठ की भोजनशाला में भोजन कर रहे थे तब मैं बाहर बैठा रहा। स्वामीजी ने अन्दर से कुछ फलों के टुकड़े मेरे लिये भी भेज दिये। उनका स्वाद मेरे लिये अभूतपूर्व और दिव्य था। मेरे घर लौटते समय स्वामीजी ने कहा– 'कल मैं तुम्हारे घर आ जाऊँगा।' अगले दिन जब मैं मठ गया तो स्वामीजी ने कहा – 'चलो, हम दोनों टहलने चलें।' कुछ दूर पैदल चलने के बाद हम दोनों एक आटो रिक्शे में बैठ गये। जब मैंने गुरु महाराज से पूछा कि कहाँ जाना है तो उन्होंने तुरन्त कह दिया – 'तुम्हारे घर'। थोड़ी देर मेरे घर में ठहरने के बाद हम समुद्र के किनारे की ओर चल पड़े। स्नान करने के बाद स्वामीजी रेत में अपने मृग का छाल बिछाकर ध्यान में बैठे और मुझे भी अपने पास ही थोड़ी दूर में बैठाकर ध्यान करने के लिये बोला। ध्यान करते–करते मुझे ऐसा लगा कि किसी ने मेरी पीठ का स्पर्श किया हो, मेरा ध्यान खूब गहराई में चला गया और ऐसा अनुभव अभूतपूर्व था। लौटते समय मैंने महाराज से कहा – 'स्वामी विवेकानन्द जी ने अपनी 'Inspired Talks' नामक पुस्तक में कहा है कि 'Religion can be given like flower or coin' (आध्यात्मिकता फूल या सिक्का जैसे और किसी को दी जा सकती है); आज इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे हो चुका है।' थोड़े दिनों के बाद महाराज केरल की तरफ चले गये। मेरे मन में एक उत्कण्ठा बढ़ने लगी कि मैं गुरुदेव के साथ ही कुछ दिन रहूँ। एक दिन मेरे स्वप्न में स्वामी ब्रह्मानंद जी महाराज आये। उनके पास एक टार्च लाइट हाथ में लेकर मैं खड़ा था। पास में दो महिलायें खड़ी थीं। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने अपनी दो अंगुलियाँ उठाकर मुझे दिखायीं। उस दिन

*स्वामी शान्तानन्द जी द्वारा तमिल भाषा से हिन्दी में अनुवादित

से दो दिन बाद मैं केरल जाकर 'हरिपाद' में महाराज से मिला। उस दिन रात को मैंने सचमुच सपने में जैसा देखा था वैसे ही मैं टार्च लाइट लेकर खड़ा था और पास में स्वामी ब्रह्मानंद जी के स्थान पर मेरे गुरु महाराज खड़े थे।

फिर एक बार महाराज से मिलने के लिये चेन्नई से कन्याकुमारी गया। पर वहाँ जाने पर ज्ञात हुआ कि स्वामीजी त्रिवेन्द्रम् (तिरुवनन्तपुरम्) चले गये थे। मुझे बहुत दुख था। मेरे पास कुछ फल पड़े थे जिनको महाराज के लिये ले गया था। पर रात को कुछ नहीं खाया था। अगले दिन ही मैं त्रिवेन्द्रम्, रामकृष्णाश्रम में जाकर महाराज से मिला। तुरन्त एक ब्रह्मचारी द्वारा नारियल का पानी मंगवाकर एक गिलास में मुझे देते हुए उन्होंने कहा – 'हे! तुमने रात को कुछ खाया नहीं क्या।' मेरे गुरु तो सर्वज्ञ थे। कुछ दिन मैं महाराज के साथ तिरुवनन्तपुरम् में ही ठहरा। उन दिनों एक बार किसी हॉल में दो दिन गुरुमहाराज प्रवचन करते थे। महाराज जिस जगह बैठे थे वहाँ चारों ओर ज्योतिर्मय मुझे दिखाई दिया। अगले दिन जब महाराज प्रवचन कर रहे थे तो उस समय उनका मुँह नृसिंह भगवान के जैसा दिखायी दे रहा था। जब और किसी भक्त के घर में स्वामी जी ठहरे थे एक दिन किसी ने जयदेव के अष्टपदी कीर्तन गाये। उसके मंगल श्लोक में जब विष्णु के दस अवतारों की स्तुति आयी तो बारी-बारी से एक-एक अवतार का भाव उनके मुख मण्डल में प्रकट हो रहा था। मैं तो महाराज के मुँह को ही ताकता रहा। एक और दिन गुरुदेव किसी भक्त के घर के छोटे-से पूजागृह में दो लोगों के साथ बैठे थे और मैं और कुछ लोग उसके बाहर बैठे थे। पूजागृह में श्रीरामकृष्ण का एक बड़ा-सा चित्र था। मेरे देखते-देखते उस तस्वीर में कभी मेरे गुरुदेव का मुखमण्डल कभी श्रीरामकृष्ण देव का मुखमण्डल इस तरह पर्याय से दिखाई देने लगे। केरल में मैं कई जगह महाराज जी के साथ गया। एक जगह गुरुदेव ईसा मसीह के बारे में भाषण दे रहे थे। तब मैंने महाराज के मुखमण्डल के चारों ओर एक दिव्य तेजोमण्डल देखा। मेरे पड़ोस में बैठे हुए एक सज्जन ने भी, मेरे पूछने पर, उसी बात को दुहराया, जिसे मैं देख रहा था।

मेरी प्रार्थनानुसार पुल्लड नामक गाँव में गुरुदेव ने मुझे मन्त्रदीक्षा दी थी। उसके बाद मैं चेन्नै लौट गया। 1952 से लेकर 1960 तक कई बार महाराज के दर्शन का सौभाग्य मुझे चेन्नै में मिला। बीच-बीच में मैंने गुरुमहाराज को अनेक पत्र भी लिखे। महाराज सबका उत्तर भी देते थे। मैं दो-तीन बार जाकर महाराज के साथ वसिष्ठगुहा में भी एक महीने तक ठहरता था। पहली बार मैं गुहा गया था और लौटने में काफी दिन बाकी रह गये थे। गुरुदेव ने मुझसे कहा – 'श्री, तुम कल ही यहाँ से क्यों नहीं चले जाते?' यह बात सुनकर मेरा मन दुखी हो गया। (महाराज मुझे श्रीनिवासन न कहकर 'श्री' कहके बुलाते थे)। थोड़ी देर बाद गुरु महाराज ने कहा – 'श्री, यहाँ तुम्हें दूध नहीं मिलता जिस कारण से तुम दुबले-पतले हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें जाने को कहा था'। करुणामय महाराज के वात्सल्य भरे वाक्य को सुनकर मैं गदगद हो गया।

और एक बार गुहा से लौटते समय जब मैंने कुछ धनराशि आश्रम के लिये स्वीकार करने के लिये आग्रह किया, तो महाराज ने इन्कार करते हुए कहा – 'तुम कोई धनसम्पन्न व्यक्ति नहीं हो। मैं नही लूँगा।' एक बार और लौटते समय मैंने महाराज से कहा – 'जब तक मैं आपके पास रहता हूँ मेरा मन एक उच्च स्तर पर पहुँच जाता है। कल मैं घर जाने वाला हूँ। तब क्या करूँ?' महाराज का संक्षिप्त उत्तर था 'मेरा स्मरण करो?'

एक बार चेन्नई से वसिष्ठगुहा प्रस्थान करते समय मैंने मन में निश्चय किया 'इस बार गुरु महाराज से खूब लड़ूँगा और लड़कर उनको कई आध्यात्मिक बातें अवगत कराऊँगा'। गुहा आने के अगले ही दिन मैं जब गुहा के द्वार के पास बैठा था, स्वामीजी ऊपरी मंजिल से उतरकर सीधे मेरे पास आये और अपने दोनों हाथों को कुश्ती लड़ने के भाव से स्वांग रचाते हुए कहा 'श्री, आ जाओ। हम दोनों लड़ेंगे', मैंने जो मज़ाक मन में सोचा था वह गुरुदेव को मालूम हो गया।

एक बार मैं और मेरे एक मित्र गुरु महाराज के साथ समुद्र के किनारे पर गये। जब स्वामीजी लहरों में घुसकर स्नान कर रहे थे, मुझे डर लग रहा था कि कहीं इस वृद्धावस्था में गुरुदेव डूब न जायें। वहाँ से लौटते समय गुरुदेव श्रीमद्भगवद् गीता के द्वितीयाध्याय के, आत्मा के अमर तथा सर्वथा अबाधित स्वरूप का निरूपण करने वाले **'अच्छेद्योऽय**

मदाह्योय' इत्यादि श्लोकों का उद्धरण करते हुए बोल उठे 'अरे, इसके डूब जाने की बात ही कहाँ?' गुरुमहाराज हरेक व्यक्ति के मन की बातों को ताड़ लेते थे। उसी दिन किसी भी प्रसंग में गुरुदेव ने मुझसे कहा – 'अपने मन को रंगा लो। केवल कपड़े को रंगाने से क्या प्रयोजन है?'

चेन्नई में किसी के घर में एक अन्धी महिला ने 'गीतगोविन्दं' (जयदेव के) के गाने गाये थे। महाराज जी ने वात्सल्य के साथ उनके भुज का स्पर्श किया। बाद में महाराज ने कहा – 'उस महिला के गाने सुनने के उपरान्त तीन दिन तक मैं एक आध्यात्मिक मादकता में डूबा रहा।'

प्रोफेसर यू.एस. रामचन्द्रन् मेरे एक मित्र थे। एक दिन मैं चेन्नई में महाराज को उनके घर ले गया था। बातचीत के सिलसिले में रामचन्द्रन ने कहा – 'कुछ दिनों पहले मेरे पेट का आपरेशन हुआ। पर अब तक पेट में काफी वेदना रहती है। महाराज ने तुरन्त उसकी कमीज़ को ऊपर करके उसके पेट पर हाथ फेरा। उस दिन के बाद से पेट की उसकी व्यथा लुप्त हो गयी।

हमारे जीवन की सारी घटनायें तथा हमारे मन में जो जो विचार उठता था सब कुछ महाराज को विदित था। एक बार वसिष्ठ गुहा में रहते समय मेरे मन में एक विचार आया कि अबकी बार महाराज जी से ब्रह्मचर्य से विषय में पूछना है। उसी समय गुरुदेव ने मुझे बुलाकर अपने आप लगभग 15 मिनिट तक ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत कुछ समझाया।

एक बार मैंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा कि मैं आगामी गर्मी की छुट्टियों में वसिष्ठ गुहा आना चाहता हूँ। स्वामीजी ने एक पत्र में लिखा कि गुहा में बहुत लोग आ चुके हैं और गुहा भरी है। उसके उत्तर में मैंने लिखा कि ऐसी परिस्थिति में अभी मैं नहीं आऊँगा। तुरन्त महाराज का पत्र आया – 'तेरे लिये यहाँ हमेशा स्थान है' (There is always a place for you)। इतना मर्मस्पर्शी प्रेम ओर कहाँ मिलेगा?

एक बार जब मैं गुहा गया था। एक अच्छा सा बिस्कुट का पैकेट ले गया था। प्रतिदिन महाराज के कमरे में जाकर उनकी आज्ञा से मैं गुरु महाराज के हाथ में दो बिस्कुट देकर अपने लिये भी दो ले लेता था। मेरे चेन्नई लौटने के पहले दिन गुरुदेव ने कहा – 'कल से मुझे कौन बिस्कुट देगा?'

एक दिन गुरुमहाराज ने वसिष्ठ गुहा के कुछ कमरों की तरफ इशारा करके कहा 'मुझे इन चीजों पर जरा भी राग नहीं है (Attachment)। तुलसी महाराज कहते थे 'ये लकड़ी ईंट आदि से बने हुए आश्रमों की क्या परवाह करना है? तुम अपना आश्रम हृदय के अन्दर निर्माण करके श्री गुरुदेव को वहाँ प्रतिष्ठित करना।' मैं उस उपदेश को कार्यान्वित कर चुका हूँ।

एक बार चेन्नई में महाराज के साथ स्टेशन जाते समय मार्ग में L.I.C. बिल्डिंग को दिखाकर मैंने कहा 'यह चेन्नई में सबसे ऊँचा है।' तुरन्त महाराज का उत्तर मिला – 'यदि कोई बम डाले तो एक मिनट में विनाश हो जाने वाला है'। इस तरह बात-बात में मुझे महाराज याद दिलाते थे कि दुनिया की समस्त वस्तुयें अशाश्वत हैं।

वर्ष 1961 फरवरी माह में शिवरात्रि की रात थी। मैं चेन्नई में हमेशा की तरह रात को दस बजे सो गया था। रात भर सपने में देखा कि मैं महाराज के साथ ही कुछ सेवाएँ करते हुए रह रहा हूँ। अगले दिन मुझे तार द्वारा श्री गुरु महाराज की महासमाधि की सूचना मिली। दसवें दिन मेरे एक मित्र के घर महासमाधि के उपलक्ष्य में एक भण्डारा की व्यवस्था की गयी। दुख भरे मन के साथ जब मैं सबको खाने के लिये केले के पत्ते पर भोजन डाल रहा था कि एकाएक गुरु महाराज की उपस्थिति का अनुभव हुआ। ठीक इसी तरह जब मैं गुरुदेव की महासमाधि के उपरान्त वसिष्ठ गुहा गया था तब भी गंगा जी के किनारे जाकर बैठे-बैठे महाराज की यादें सता रही थीं कि 'मेरे गुरुदेव का स्थूल रूप अब देखने को नहीं मिल सकता।' मैंने जब मुड़कर देखा तो यह अनुभव हुआ मानो गुरु देव मेरे सामने खड़े हों।

बोलो सद्गुरु महाराज की जय। सद्गुरुदेव के चरण कमलों में न्यस्तशिरस् होकर बार-बार मेरा कोटि-कोटि नमस्कार।

●●●

मेरा अनुभव

- नरेन्द्र वर्मा

मेरे बाबा स्व0 सेठ जयनारायण जी परम पूज्यनीय गुरु महाराज के भक्त थे। मेरे पिता जी स्व0 श्री अभिमन्यु वर्मा जब कक्षा 9 में पढ़ते थे तब से गुरु महाराज के अनन्य भक्त बन गये थे। हमारे पिता जी ने आर्यनगर सीतापुर में जहाँ हम लोग रहते थे, वहाँ गुरु महाराज के लिए एक आश्रम बनवाया था। जब महाराज जी सीतापुर आते थे तब वहीं रुकते थे। उनके साथ स्वामी कालिकानन्द जी भी वहाँ आते थे। तब मैं करीब पाँच-छः वर्ष का था। उस समय मेरे दाँत में पीड़ा हुआ करती थी। महाराज जी गरम राख से मेरे दाँत की सिंकाई करते थे, और कभी-कभी मुझे अपने पास सुला लेते थे। कालिकानन्द जी भी मुझे लॉन में गोद में लेकर टहलाते थे। आगे मैं जो घटना बताने जा रहा हूँ वह आज से करीब 9-10 साल पहले की है।

सात जुलाई सन् 1995 दिन सोमवार की सुबह पाँच बजे जब मैं आँगन में भजन कर रहा था व मेरी पत्नी बाथरूम में स्नान कर रही थी तो अचानक मेरा कुत्ता शेरू जीने पर चढ़कर जोर-जोर से भौंकने लगा। तब मैं उसके पीछे-पीछे जीने पर गया और देखा कि सबसे ऊपर वाले जीने पर एक काला साँप फन निकाले बैठा था। कुत्ता उसी साँप को देखकर भौक रहा था। मैंने अपनी पत्नी से कहा कि जल्दी आओ, देखो जीने पर साँप है।

वह निकलकर आयी और साँप को देख हाथ जोड़कर गुरु महाराज से प्रार्थना की कि हम इसको घर से निकलते हुए देखें। थोड़ी देर बाद वह साँप ऊपर के कमरे में चला गया और जाकर कहीं छिप गया। उसके बाद हम लोगों ने बहुत कोशिश की पर वह दिखाई नहीं दिया। फिर मैं एक साँप पकड़ने वाले को लेकर आया, वह भी देखकर चला गया और उसे साँप कहीं नहीं मिला।

मेरी पत्नी जो कि अध्यापिका है स्कूल चली गयी। मैं और मेरी पुत्री पूर्णिमा घर पर रह गये थे। मेरे घर के चारों ओर और लोगों के मकान हैं, सभी लोग परेशान थे कि कहीं मेरे घर में सांप न आ जाये। बीच में मैंने अपनी बेटी से कहा, 'क्या तुम अकेली ऊपर जाकर देख सकती हो?' तो वह ऊपर बिना डरे चली गयी। लौटकर बोली, 'साँप नहीं दिखायी दे रहा है।' मेरी पत्नी भी स्कूल से लौट आयी थी। इस समय दिन का एक बज चुका था, और साँप ढूँढने के जितने भी उपाय सब लोगों ने बताये थे व्यर्थ हो गये थे। थक-हार कर मेरी पत्नी और बेटी लेट गयी और उनकी आँख लग गयी।

जब मैं हर उपाय करके निराश हो गया। तब मैंने अपनी माला उठायी और आश्रम में स्थित गुफा में शिवलिंग तथा गुरु महाराज का ध्यान करके माला का जाप करना शुरू किया। करीब एक घंटे जाप करने के बाद मेरे पड़ोसी ने बेल बजाई मैं उठकर बाहर गया उसने बताया कि बाबूजी दो छोटे-छोटे बच्चे जो कि सपेरे हैं चौराहे पर खड़े हैं और कह रहे हैं कि अगर साँप दिखाई दे जाये तो हम निकाल देंगे। मैं फौरन अन्दर आया अपनी बेटी से कहा बेटा दरवाजा बन्द कर लो मैं उन सपेरों से बात करने जा रहा हूँ। मेरी बेटी दरवाजा बन्द करने आयी वैसे ही उसे कमरे की छत में धन्नियों और ईटों के बीच साँप की पूँछ दिखाई दी उसने कहा पापा यह साँप है। मैंने कहा तुम इसे देखती रहना कि यह किधर जाता है मैं अभी आ रहा हूँ।

मैं चौराहे पर सपेरों से मिलने पहुँचा तो देखा दो बच्चे खड़े हैं उनकी आयु लगभग 10-12 वर्ष थी। उन्होंने बताया कि वे अभी-अभी हरिद्वार से आये हैं, और कहा कि यदि आप हमें साँप दिखा दें तो हम उसे निकाल लेंगे। मैं मन ही मन डर रहा था कि कहीं साँप ने इन बच्चों को काट लिया तो लेने के देने पड़ जायेंगे। फिर उन बच्चों को अपने साथ घर लाया। और उनको साँप की पूँछ दिखाई जो कि छत में छिपा था। उसने सीढ़ी लगवाई और साँप निकालने की कोशिश करने लगा, और बार-बार कह रहा था भोले बाबा निकलो और जो छोटा बच्चा नीचे

खड़ा था वह उसे समझा रहा था कि साँप को किस तरह निकालो। चूँकि साँप ने अपना फन ईटों में फँसा के पकड़ बना ली थी। इसलिए उसको निकालने में उस बच्चे को एक घंटा लग गया। इस बीच हमारे दरवाजे पर भीड़ इकट्ठा थी सब तमाशा देख रहे थे। उन बच्चों ने शुरू में कहा था कि हमारे माँ–बाप तथा और भी बहुत से लोग हमारे साथ हैं।

साँप निकालकर उसने टोकरी में बन्द किया। मैंने पचास रुपये बड़े लड़के को और बीस रुपये छोटे लड़के को दिए। वे साँप लेकर चौराहे की तरफ चल दिये। मैं बताना यह चाहता हूँ चूँकि मैंने गुरु महाराज को देखा है उस बड़े लड़के की हँसी बिल्कुल गुरु महाराज की तरह थी उसके मुख पर वही भाव थे जैसे कि महाराज के मुख मण्डल पर होते थे। मुझे एकदम से ऐसा अनुभव हुआ कि यह गुरु महाराज ही हैं। उससे बात करते समय मुझे गुरु महाराज की छवि दिख रही थी।

चौराहे तक पहुँचने के बाद वे बच्चे किसी को नहीं दिखे। बाद में लोगों ने पता किया न कोई सपेरों की टीम आयी थी और न वे बच्चे किसी को दिखे।

इस प्रकार गुरु महाराज साक्षात् शंकर भगवान को लेकर आये ओर हम सबकी रक्षा कर गये। गुरु महाराज को जो भी सच्चे मन से याद करता है महाराज उसकी सदैव रक्षा करते हैं। ऐसे गुरु महाराज को हम सबका कोटि–कोटि नमन है।

मेरा दूसरा अनुभव

एक किस्सा मैं और बताना चाहता हूँ। जब गुरु महाराज ने मेरे प्राणों की रक्षा की। एक बार मैं बरेली से सीतापुर आ रहा था सीतापुर करीब 11 बजे रात में पहुँचने वाला था। रास्ते में एक ढाबे पर बस के कुछ मुसाफिरों ने खाना खाया। मैंने खाना नहीं खाया क्यूंकि मैंने घर पर बता दिया था कि मैं 11 बजे तक पहुँच जाऊँगा।

ढाबे से कुछ दूर ही बस चली होगी कि एक बड़े जाम में बस फँस गयी। जाम बहुत बड़ा था। दूसरी तरफ से जो बस धीरे–धीरे निकल रही थी उसके ड्राईवर और मुसाफिर हम लोगों से कह रहे थे कि सुबह आठ बजे से पहले यहाँ से निकल नहीं पाओगे।

मुझको एक बीमारी है कि अगर मेरा पेट खाली होता है और मैं तुरन्त कुछ न खाँऊ तो दिल बैठने लगता है, और लगता है कि जान निकल जायेगी। मैं भूखा तो था ही यह सुनकर कि यहाँ सुबह से पहले नहीं निकल पायेंगे मेरा दिल बैठने लगा। रात के अंधेरे में न वहाँ पानी था न कुछ खाने को था। मेरी आँख में आँसू आ गये मैंने सोचा मेरी तो जान बचना मुश्किल हो जायेगी। जब कोई रास्ता न दिखा तब मैंने आँख बन्द कर और हाथ जोड़कर गुरु महाराज का ध्यान किया और प्रार्थना की कि मुझे जल्दी सीतापुर पहुँचाइये नहीं तो मैं बच नहीं पाऊँगा।

फिर जैसे चमत्कार हुआ। मेरे आगे वाली बस और मेरी बस पता नहीं कैसे उस जाम से निकल आई और मैं ठीक 11 बजे सीतापुर पहुँच गया।

इस प्रकार गुरु महाराज ने फिर मेरी रक्षा की। गुरु महाराज हम सबके पास ही रहते हैं बस उन्हें सच्चे मन से याद करने की जरूरत रहती है। वे तुरन्त आते हैं।

बोलो गुरु महाराज की जय।

●●●

भगवान में ही विश्वास करो। इसके अतिरिक्त कुछ सहायता की आशा किससे कर सकते हो? ऐसा करने से दूसरे सभी विचार स्वयं दूर हो जायेंगे।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

वसिष्ठ गुहा–एक विरासत

- उमेश चन्द्र श्रीवास्तव

पूज्य पिताजी स्वर्गीय श्री ईश्वरी दयाल श्रीवास्तव द्वारा प्राप्त वसिष्ठ गुहा मेरी विरासत है। एक ऐसी अनमोल विरासत जो खर्च नहीं होती, वरन् समय के साथ उसमें अटूट श्रद्धा एवं भक्ति की बढ़ोतरी होती जा रही है।

सन् 1946 की मेरी पैदाइश है। केवल 5 वर्ष की उम्र में स्वामी श्री पुरूषोत्तमानन्द जी महाराज के दर्शन, माताजी एवं पिताजी के साथ गुहा आने पर हुए। उन दिनों भोजन की ऐसी व्यवस्था नहीं थी। अतः जब माताजी भोजन बनाने जातीं तो मुझे स्वामी जी के पास छोड़ जातीं और मुझे प्राप्त होता स्वामीजी का निकटतम सानिध्य, उनकी बाँहों का सहारा, उनकी उँगली का आलम्बन और गोद का आशीर्वाद। बच्चों की तरह उनका हँसना और सायं गंगा में तैरना मेरे मानस पटल पर आज भी सजीव रूप में अंकित है।

स्वामी जी लखनऊ लगभग हर वर्ष जाड़े में आते थे और मुझे भी पढ़ाई के कारण रविवार और छुट्टी के दिन शुक्ला घाट पर जाने का अवसर मिलता। बचपन की अल्प बुद्धि के अनुसार शुक्ला घाट पर स्वामी जी के पास जाना एक आनन्द का अवसर होता था। दिन भर ऋतुफल, भोजन और खेलना। जैसे ही कोई आता हम सब बच्चे भागकर स्वामीजी के सामने होते और आने वाला व्यक्ति फल की टोकरी, मिठाई जो कुछ महाराज जी को अर्पण करता, हम बच्चों में लुटा दी जाती। यदि याद करूँ तो अनेकानेक जगह पर बालक के रूप में स्वामी जी के साथ लखनऊ के प्रतिष्ठित एवं उच्च वर्ग के लोगों के यहाँ जाने का अवसर भी मिला। भजन, कीर्तन आदि कार्यक्रमों में महाराज जी स्वयं बहुत कम बोलते और ध्यान में रहते। भजन, कीर्तन आदि कार्यक्रम खत्म होने पर केवल तीन बार ओम् ओम् ओम् का उच्चारण करते।

मैंने पढ़ाई के उपरान्त 1967 में राजस्थान के शिक्षा विभाग में नौकरी कर ली। समाधि के 17 वर्ष बाद सन् 1978 में पुनः मैं और मेरी पत्नी हरिद्वार, ऋषिकेश घूमने आये। ऋषिकेश में पंजाब सिन्ध क्षेत्र में ठहरे हुए थे कि मन में आया कि जब यहाँ तक ही आ गये हैं तो चलें आज महाराज का जन्म दिन भी है वसिष्ठ गुहा दर्शन कर आयें। सुबह ऋषिकेश से गुहा आये। दिन भर गुहा में रहे, अर्चना, हवन एवं भण्डारा आदि हुआ। भोजन प्रसादी लेकर (सामान आदि सब ऋषिकेश में होने के कारण) वापस सायं ऋषिकेश लौट गये। वयस्क होने के बाद मुझे प्रथम बार समझदार के रूप में वसिष्ठ गुहा के दर्शन हुये। पिताजी को तो सब लोग जानते हैं यह पता लग गया।

महाराज जी के जन्म शताब्दी महोत्सव के अवसर पर वर्ष 1979 में प्रकाशित 'सोविनियर' में मैंने जब स्वामी चैतन्यानन्द जी (मेरे अध्यात्मिक गुरू) का लेख पढ़ा और महाराज जी के जन्म स्थान का चित्र देखा तो महाराज जी के जन्म स्थान को देखने की प्रबल इच्छा जाग्रत हुई। पिताजी ने मुझे बताया था कि स्वामी (वीरेश जी) प्रकाशानन्द एक भूतपूर्व फौजी हैं जो वहाँ रहते हैं।

सुचिन्द्रम् गुरुवायुर और पिताजी द्वारा पूर्व में आकाशाश्रम जहाँ पर गुरु महाराज ने ॐ की स्थापना की थी आदि बताये स्थानों को देखने की इच्छा के साथ जन्म स्थान को देखने की इच्छा और बलवती हो गयी।

नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम्।
नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम्।।

दक्षिण यात्रा की मुख्य घटना इस प्रकार है : सुचिन्द्रम्, रामेश्वरम्, मीनाक्षी देवी, त्रिचनापल्ली और कन्याकुमारी देखने के बाद जब हम कन्याकुमारी से त्रिवेन्द्रम सायंकाल पहुँचे तो पता चला कि तिरूवल्ला (स्वामी का जन्म स्थान) के लिए अब गाड़ी प्रातः ही मिलेगी। मैं सपत्नीक रेलवे स्टेशन के सामने एक होटल में रुक गया। नींद कब आयी, आयी या नहीं कुछ पता नहीं। मन में एक उमंग थी कि जन्म

स्थान कल देखने को मिलेगा। हम सुबह रेलवे स्टेशन पर आ गये, तिरूवल्ला का टिकट लिया डिब्बे में बैठ गये और ट्रेन के छूटने का इन्तजार करने लगे। श्रीमती जी डिब्बे में और मैं प्लेटफार्म पर टहलने लगा। पिताजी ने बता रखा था कि तिरूवल्ला में रामकृष्ण मठ की शुरूआत स्वामी जी ने ही की थी। मैंने यही योजना बनायी कि सीधा मठ जाकर कहुँगा कि स्वामी जी के घर का पता बतायें। ट्रेन चलने में अभी देर थी कि अचानक एक वृद्ध व्यक्ति ने आकर मुझसे पूछा – (सारी बातें अंग्रेजी में हुई)

Old Person : This train leaves for?

मैं असमंजस में आ गया कि यहीं का आदमी मुझ अजनबी से पूछा रहा है।

I replied - (with no concern) Ernakulam, Manglore.

Old Person : Where are you going?

My self : Tiruvalla.

Old Person : Why?

My self; That's my Guru's birth place. I have a keen desire to see it.

Old Person : How would you reach there?

My self : I will get down at Tiruvalla station and . . . . . .

(Being teacher very talkative)

The old person interrupted me and asked - what is the name of your Guru?

My self : Swami Purushottamananda ji Maharaj.

Old person : Oh ! He is your Guru. I know him very well. He was very close to me. It is very near to our residence. Have you any piece of paper or so? I will write down the exact location (address) in the local language i.e. Malyalam and you will have no difficulty in reaching over there.

मैंने अपने साथ चलने तथा काफी पीने का आग्रह किया। Oh ! Yes, Yes कहते हुये उसने नोटबुक लिखकर देते हुये कहा तिरूवल्ला पहुँचकर आप किसी को भी दिखा दीजियेगा आपको कोई परेशानी नहीं होगी। आप अपने डिब्बे में बैठिये मैं अभी आ रहा हूँ। मैं ट्रेन चलने तक काफी लिये इन्तजार करता रहा।

तिरूवल्ला स्टेशन आया। मैंने गाड़ी से उतर कर डायरी का वह पृष्ठ आटो वाले को दिखाया। मेरे कहने से वह मुझे पहले रामकृष्ण मठ ले गया। वहाँ पर महाराज जी का कोई चित्र न पाकर मुझे दुःख हुआ। वहाँ पर उपस्थित स्वामी जी ने मुझसे बात की और आटो वाले को जन्म स्थान बताया। आटो वाला मुझे स्वामी जी के जन्म स्थान पर ले गया। वहाँ हमें स्वामी प्रकाशानन्द जी मिले। मैंने अपना परिचय दिया और जब मैंने अपने पिताजी का नाम बताया तो वे गद्‌गद् हो गये। मैंने वहाँ विश्राम किया, नारियल की मलाई खाई और चिर प्रतीक्षित, अभिलाषा पूर्ण हो गयी। मैंने श्री गुरुदेव भगवान के जन्म स्थली को देख लिया।

जय सद्‌गुरु देव।

जय गुरुदेव भगवान की जय।

अतः गीता के अध्याय 9 के श्लोक 22 के अनुसार –

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।"

आप स्वयं विचार कर निर्णय करें, कि वह Old Person कौन था . . . . .!!

जिस रूप में आपका मन माने' . . आप जानें।

उनके द्वारा भेजा गया कोई व्यक्ति या वह स्वयं . . . . .

विरासत में प्राप्त अनमोल धरोहर वसिष्ठ गुहा जहाँ पर वयस्क होने के साथ सन् 1978 से निरन्तर प्रतिवर्ष एक बार तो अवश्य ही आता हूँ। स्वामी शान्तानन्द जी के गुरुपूर्णिमा पर एक बार दिये गये भाषण के उपरान्त गुरुपूर्णिमा पर अवश्य ही आने का प्रयत्न करता हूँ। पिताजी द्वारा प्रदत्त वसिष्ठ गुहा अध्यात्मिक जगत की एक ऐसी विश्व बैंक रूपी विरासत है – जिससे जितना चाहो Loan लो, कभी मना नहीं होता। और तो और 100% Subsidy भी मिलती है। Loan का जितना सद्‌उपयोग करो, Loan और मिलता है। Over Draft का तो प्रश्न ही नहीं। केवल जरूरत है तो Loan लेने वाले की।

हरि : ओम्

●●●

पूजा की थाली

- श्रीमती शारदा बहादुर

'गुरु महाराज जी' – मेरे लिए ऐसी चमकती ज्योति की तरह हैं जिसको मैंने जन्म होते ही अपने पास पाया। महाराज जी के हाथों ही बाल्यावस्था के संस्कार सम्पन्न हुए। हमारा सौभाग्य है कि हमारे जैसे तुच्छ मनुष्य के जीवन में उनका आशीर्वाद और उनकी कृपा सदैव ही बनी रही। आज हम जो भी हैं और जो कुछ भी हमारे पास है वो सब हमारे महाराज जी की कृपा है। मेरे जीवन में बहुत से ऐसे वाक़यात हुए हैं जो मैं स्पष्ट नहीं कर सकती न करना चाहती हूँ। बहुत सी बातें ऐसी हैं जो अपने हृदय में रखना चाहती हूँ। मेरे अन्दर महाराज जी के लिए जो प्यार है, विश्वास है वो किसी पर व्यक्त नहीं करना चाहती। कण–कण में वे बसे हैं बस यही चाहती हूँ कि जीवन के अन्त तक मैं महाराज जी की भक्त बेटी बनी रहूँ। प्राण भी निकलें तो महाराज जी को याद करते–करते।

मैंने महाराज जी की श्रद्धा में कुछ भक्ति रचनाएं की हैं। मेरे अन्दर सहजता से जो भी भाव आए मैंने उन्हीं को व्यक्त किया है।

(1)

आरती की थाली, ले के चली मैं
भगवन के द्वारे–द्वारे
कितनी ही बाधा आई मेरे आगे
फिर भी न जाने कैसे पहुँची मैं द्वारे
आरती की . . . .
द्वारे पे पहुँची तो सामने थे भगवन
आँसू मेरी आँखों से बहने लगे उस क्षण
मन की बतियाँ जान गए वो
फिर न पूछो कैसा लगा मुझको,
आरती की . . . .
उनकी मुस्कुराहट में जाने क्या था ऐसा,
जीवन की सारी खुशी मिल गई तभी मुझको
धन्य हुए मेरे भाग्य उनकी झलक से
फिर न पूछो कैसा लगा मुझको
आरती की . . . .।।

(2)

लगन लागी मन की तुमसे लगन
ओ गुरुदेव – ओ गुरुदेव तुमसे लगन
जब से आए हो जीवन में, मेरा जीवन बदल गया
जहाँ देखूँ वहाँ तुम हो
जहाँ जाऊं वहाँ तुम हो
लगन लागी . . . .
बैठी रहूँ तुम्हारे चरणों में मैं
सारी सुधबुध भुला के
न तो दुनिया की खबर हो
न तो घर की फिकर हो
सबको मैं भूल जाऊँ
लगन लागी . . . .

(3)

तेरे चरणों में मैंने शीश जब झुका दिया
तो मन झूमता ही झूमता चला गया
मन मन्दिर में मैंने जो तुम्हें बसा लिया
तो मन झूमता ही झूमता चला गया
तेरी मुस्कान में मैंने सब पा लिया
मन के मन्दिर में जब तुम्हें बसा लिया–
तो मन झूमता ही झूमता चला गया
मन से पूजा तुम्हें, दिल से चाहा तुम्हें
आँसू मेरे नैनों से छलक गए
तो मन झूमता ही झूमता चला गया
गुरु के पास मुझे सारे सुकून मिले
सबको भूल गए कुछ न याद रहा
सबको यूँ ही भूलते चले गए
तो मन झूमता ही झूमता चला गया

(4)

तुम्हें चाहा तुम्हें पूजा तुम्हें माना मैंने
मन के मंदिर में बसाया है तुम्हें

तेरे चरणों में शीश झुकाया है प्रभु
रात दिन मैंने तुमको पूजा है प्रभु

यह इच्छा है मैं न भूलूँ अब कभी तुम्हें
तुम्हें चाहा तुम्हें पूजा तुम्हें माना मैंने

हम ऐसे पापी को अपना जो लिया
तो सारे कष्ट हो गये दूर तो सुख ही सुख मिल गया
यहीं बिनती है मेरी न भूलें अब तुम्हें

तुम्हें चाहा तुम्हें पूजा तुम्हें माना मैंने

●●●

मन की पुकार

- नीरजा दिनेश

(1)

मेरे स्वामी कृपालु दयालु, वो तो सुनते हैं सबकी पुकार
गुरु की महिमा अपरम्पार गुरु की महिमा अपरम्पार
द्वार पे तेरे जो भी आया, खाली हाथ न वापस आया
भक्ति भाव का दीप जला कर, भक्त को प्रभु की राह दिखाकर
करते हैं जग का निर्वाण, गुरु की महिमा अपरम्पार
गिरते हुओं को तूने संभारा, पापी को भी पार उतारा
दीप ज्ञान का प्रज्जवलित करके, मूरख मन ज्योर्तिमय करके
भवसागर से करते पार, गुरु की महिमा अपरम्पार
सब जानत तुम अन्तर्यामी, मैं निर्धन तुम सर्वस दानी
आया तेरे द्वार पे स्वामी, लेकर अपनी करुण कहानी
सुन लो प्रभु अब मन की पुकार, गुरु की महिमा अपरम्पार

(2)

हे सतगुरु हे कृपा सिन्धु तुम, जग के बने गरीब नवाज
काज अकाज बनाते सबके, श्री पुरुषोत्तमानंद महाराज
हे सतगुरु . . . . .
चढ़ता सूरज वन्दन करता, श्याम घटा, छाये हरियाली
श्वेत चन्द्रमा की किरणें हैं, पाती तुमसे ज्योति निराली
गंगा की लहरें भी होती, धन्य तुम्हारे चरण पखार
हे सतगुरु . . . . .
श्रद्धा के फूलों से भर दो, मेरे मन की ये फुलवारी
ईश्वर की पूजा से बढ़कर, दाता मुझको प्रीत तुम्हारी
जग के बन्धन तोड़ के आयी, ये माया काँटों का ताज
हे सतगुरु . . . . .
भूला हुआ पथिक एक बैठा, कबसे तेरी ओर निहारे
टूटा हुआ हृदय लेकर अब, आया है गुरु तेरे द्वारे
ठुकराओं ना शरण में ले लो, दीन पथिक को बांह पसारे
हे सतगुरु . . . . .

(3)

सतगुरु स्वामी अन्तर्यामी, विनती सुनो हमारी आज
पुरुषोत्तमानन्द महाराज
निसिदिन तुमरा ध्यान लगाऊँ, आशा के ये दीप जलाऊँ
अपने द्वार बुलाओ अब मुझको, पूरी करो साधना आज
पुरुषोत्तमानन्द महाराज
कृपा सिन्धु तुम भाग्य जगाओ, मुरझाये ये फूल खिलाओ
तुम रूठे तो रूठ गया है, मुझसे जग का पालक आज
पुरुषोत्तमानन्द महाराज
तुम दीपक मैं ज्योति तुम्हारी, सागर तुम मैं लहर तिहारी
दृग जल के मोती करूँ अर्पण, मन का सुमन खिलाओ आज
पुरुषोत्तमानन्द महाराज

(4)

देखो धरती अम्बर मगन भये आज
जन्मे पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज
सूर्य चन्द्र करते आवाहन, मलय समीर सुगन्धित पावन
लहराती गंगा की लहरें, छेड़ती मन का साज
जन्मे पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज
तुमको पाया जग में ऐसे, महाराज, सिन्धु में मोती जैसे
निर्धन के जीवन धन बनकर, रहो गरीब नवाज
जन्मे पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज
दर्शन की बस आस ये मुझको, पीताम्बर में देखूँ तुमको
सदा रहे गुरु ध्यान तुम्हारा, दो इतना वर आज
जन्मे पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

आश्रम की मर्यादा

श्री गुरु महाराज के समय सर्वप्रथम निर्मित निवास

साधना के समय प्रत्येक व्यक्ति को एक बैरागी की भाँति रहना चाहिए। जब तक तुम्हारी साधना परिपक्व नहीं हो जाती, तब तक तुम्हें बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। आश्रम में केवल शारीरिक उपस्थिति से ही व्यक्ति सुधरता नहीं है। आश्रम की मर्यादा का पूर्णरूपेण पालन करने से ही व्यक्ति का सुधार होता है। यदि तुम चिकित्सालय में विष ग्रहण करो, तो वहाँ भी तुम्हें कोई बचा नहीं सकेगा। डाक्टर के बताए हुए इलाज से ही तुम बच सकते हो। इसी प्रकार आश्रम में रहते हुए आत्मरत होकर ही तुम बच सकते हो।

प्रारम्भ में कोई भी आश्रमवासी थोड़ा आलसी और प्रमादी बन सकता है। यदि उसको नियन्त्रित न किया जाए तो और भी अधिक हो सकता है। इसीलिए अनुशासन आवश्यक है। आश्रम का अनुशासन तुम्हें अनुशासित रहने में मदद करने के लिए है। आश्रम के अनुशासन के भिन्न-भिन्न पहलू - जल्दी सोना, जल्दी उठना, सीमित आहार, कम बोलना, अधिकतर समय मौन रहना और कुछ सेवा करना - तुम्हारी सहायता के लिए है। यदि हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है तो कितना ही समय तुम आश्रम में बिता लो, यह गारंटी नहीं है कि तुम्हारा पतन नहीं होगा।

कभी-कभी भक्तगण सोचते है कि आश्रम में कुछ सुधार लाए जा सकते हैं। यह अच्छी बात है कि तुम आश्रम से अपने को इतना जुड़ा समझते हो और वास्तव में तुम्हें यह एहसास होना चाहिए कि आश्रम तुम्हारा शरीर है। जैसे तुम अपने शरीर की देखभाल करते हो, वैसे ही आश्रम की भी देखभाल करनी चाहिए। तभी तुम्हारी भक्ति पूर्ण होगी। पहले इस बात का पता लगाओ कि क्या वास्तव में किसी सुधार की आवश्यकता है? यदि है, तो सुधार अवश्य होने चाहिए। पर यह बात सदैव ध्यान में रखो कि आश्रम को भोग विलासिता का स्थान नहीं बनाना है। आश्रम में अनुशासित, मर्यादित, कठिन परिश्रम का जीवन (शरीर के लिए कठिन परिश्रम आवश्यक है) और आत्म अनुसंधान परमावश्यक है।

आश्रम में रहते समय हम लोगों को वहाँ के वातावरण को अपने चाल-चलन से दूषित न करने का निश्चय कर लेना चाहिए। आश्रम की सम्पत्ति को नष्ट नहीं करना है और आश्रम में कोई गड़बड़ी नहीं करनी है जिससे अपने पुण्य का क्षय हो। जो तुम्हें आश्रम से प्राप्त होता है वो आश्रम के प्रति तुम्हारी भावना पर निर्भर करता है। यदि तुम आश्रम को एक पुण्य स्थल मानते हो तो तुम उत्तरोत्तर उन्नति करते चले जाओगे। यदि तुम्हारे दृष्टिकोण से यह एक

निम्न कोटि का स्थान है तो तुम्हारा केवल पतन ही होगा। आश्रमवासी अपने अथक प्रयास से आश्रम को इतना स्वच्छ और सुन्दर रखते हैं मानो वे अपने खून से उसकी सिंचाई करते हों। वे महान तपस्या कर रहे हैं। वे ध्यान करते हैं। वे भजन-कीर्तन करते हैं। इस प्रकार वे आश्रम के वातावरण को शुद्ध रखते हैं।

आश्रम में रहना अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। आश्रम में तुम्हें पूर्ण चेतना से रहना है और बुद्धि पूरी जागरूक होनी चाहिए। तपस्या मत त्यागो। किसी को भी आश्रम को एक भोग विलासिता अथवा आराम तलबी की जगह मानने का अधिकार नहीं है। आश्रम एक पिकनिक की जगह नहीं है जहाँ तुम खाने-पीने और मौज करने, किसी उत्तरदायित्व के बिना रहते हो और फिर चले जाते हो। यदि तुम्हारी ऐसी भावना है तो आश्रम तुम्हारे समस्त पुण्य को चूस लेगा और तुम्हें निर्धन और निकृष्ट बनाकर छोड़ देगा। आश्रम सत्य और कर्म का जीता-जागता स्वरूप है। जो भी भेंट भक्तगण यहाँ लाते हैं वे जड़-वस्तुएँ नहीं हैं। आश्रम की वस्तुओं का उपयोग करते समय हमें उन्हें केवल फर्नीचर, आराम और भोग की सामग्री के रूप में नहीं देखना चाहिए वरन् धर्म के रूप में देखना चाहिए और आदर सहित उनका उपयोग करना चाहिए। आश्रम की भिन्न-भिन्न सुख सुविधाओं का उपयोग करते समय (जैसे बिजली, पानी, चादरें और अन्य वस्तुएँ) इस बात पर अत्यधिक ध्यान देना और सावधानी बरतनी चाहिए कि ये सब वस्तुएँ किन्हीं अन्य व्यक्तियों द्वारा दान की गयी हैं। आश्रम में पूर्ण सजगता और आदर से चलना-फिरना चाहिए। यदि तुम वहाँ सही तरह से रहोगे तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा, नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जाएगा। धर्म रक्षा करता है और नष्ट भी कर देता है।

आश्रम जीवित ब्रह्म का महान निवास स्थान है। यही वह स्थान है जहाँ हमें मन की शांति मिलती है और यहाँ रहते हुए हमें पूर्ण भान होना चाहिए कि यह ईश्वर का साक्षात् हृदय है।

आनन्दाश्रम की पत्रिका 'दि विजन' से साभार अनूदित

●●●

ज्ञानवान, दीन और सच्चे आदमी की सेवा करो। यह तुम सबके लिए मन्दिर का सन्देश है। ऐसे व्यक्ति की हर प्रकार से सहायता करो।

*

वे लोग भाग्यशाली हैं जो भगवान से प्रेम करते हैं। वे स्थान को पवित्र बना देते हैं।

*

भगवान की करुणा के बिना उस तक पहुँचना अति कठिन है और बिना सेवा के व्यक्ति उसकी करुणा की आशा कैसे कर सकता है।

*

इसको निश्चित रूप से समझ लो कि जिसको "मैं," "मैं" कहते हो वह मन, बुद्धि, अहंकारादि नहीं है। इन सबका जो साक्षी शुद्ध चैतन्य है, वही "मैं" है।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

श्री श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज
के
125वें जन्म जयन्ती पर्व पर

- योगेश प्रवीन

नयी सदी का नया विहान
जन्म जयन्ती पर्व महान
नवल प्रभात, विश्व वरदान
सबको शुभ हो पर्व महान

पुण्य क्षेत्र दक्षिण भारत में
जन्मभूमि अनुपम गुरु ग्राम
सिद्ध हिमालय गंगा तट पर
बसे वसिष्ठ गुहा, सुखधाम
परमतेज आभा मुखमण्डल
अधर खिली–अमृत मुस्कान
सबको शुभ हो–पर्व महान

शैशव से ही 'नील कण्ठ' को
प्रिय था सदा मधुर एकान्त
शान्त प्रकृति, प्रेमी अनुरागी
प्रभु दर्शन लालसा प्रशान्त
श्री गुरु पाए, ब्रह्मानन्द जी
मानो मिले प्रान को प्रान
सबको शुभ हो पर्व महान

ज्ञान का सूरज, मन का चन्द्रमा
लेकर सत्य प्रचार किया
कठिन साधना, अथक परिश्रम
से जग का उद्धार किया
देश–विदेश में, नगर–नगर में
आपने पहुँचाया सद्ज्ञान
सबको शुभ हो पर्व महान

श्री महाराज जी, आओ–आओ
प्रेम सुधा रस बरसाओ
जन जन का कल्याण करो प्रभु
अपनी करुणा पहुँचाओ
आपके ऋण से कौन उऋण है
श्री पुरुषोत्तमानन्द भगवान
सबको शुभ हो पर्व महान

●●●

एक भक्त के हृदयोद्गार

- अंजनी कुमार

हे पुरुषोत्तम महागुरु

पुष्प हैं तेरी बगिया के हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।
चरणों में तेरे अर्पित हों हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।

धन्य करो इस जीवन को, करके अपनी कृपा प्रभु।
आस लगाये हैं तुमसे हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।
पुष्प हैं . . . .

वास करो हृदय में मेरे, यद्यपि यह है महामलिन।
शुद्ध करो मेरे अंतर्मन को, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।
पुष्प हैं . . . .

भव-सागर की भँवर में लटके हम, इससे बाहर करो प्रभु।
शान्त करो इस हृदय की ज्वाला, देकर अपनी शीतल छाँव।।
पुष्प हैं . . . .

हम बालक हैं सदा तुम्हारे, क्षमा करो सब दोष हमारे।
निर्मल करके हृदय हमारा, बस जाओ मन मंदिर में।।
पुष्प हैं . . . .

आकर कें फिर कभी न जाना, छोड़ के अपने बालक को।
और कहाँ है ठौर हमारा, सिवा तुम्हारे चरणों के।।
पुष्प हैं . . . .

जब प्राण तन से निकले

प्रभु आकर दरस दिखाना, जब प्राण तन से निकले।
मेरी भव-चेतना मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।

गुरु चरणों की हो स्मृति, हृदय में छवि तुम्हारी।
तुम हमसे न दूर रहना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

मेरे रोम-रोम से हो, स्तुति सदा तुम्हारी।
मेरे दोष सब मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

भय हो न मृत्यु का और, मन में न कोई विचलन।
प्रभु इतनी कृपा तो करना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव चेतना . . . .

यह जीवन दिया तुम्हीं ने, और पालन किया तुम्हीं ने।
फिर गोद में उठाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव चेतना . . . .

हर लेना प्रभु मेरी वृत्ति, दे देना मुझे निःवृत्ति।
मेरे जीवत्व को मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

●●●

आखिर तुम हो क्या? तुम शरीर नहीं हो, न तुम मन ही हो और न अहँकार ही। तुम इन सबसे ऊपर हो। एक सच्चे साक्षी हो, ब्रह्म द्रष्टा हो।

– श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

एक भक्त के हृदयोद्गार

- अंजनी कुमार

हे पुरुषोत्तम महागुरु

पुष्प हैं तेरी बगिया के हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।
चरणों में तेरे अर्पित हों हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।

धन्य करो इस जीवन को, करके अपनी कृपा प्रभु।
आस लगाये हैं तुमसे हम, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।
पुष्प हैं . . . .

वास करो हृदय में मेरे, यद्यपि यह है महामलिन।
शुद्ध करो मेरे अंतर्मन को, हे पुरुषोत्तम महागुरु।।
पुष्प हैं . . . .

भव-सागर की भँवर में लटके हम, इससे बाहर करो प्रभु।
शान्त करो इस हृदय की ज्वाला, देकर अपनी शीतल छाँव।।
पुष्प हैं . . . .

हम बालक हैं सदा तुम्हारे, क्षमा करो सब दोष हमारे।
निर्मल करके हृदय हमारा, बस जाओ मन मंदिर में।।
पुष्प हैं . . . .

आकर कें फिर कभी न जाना, छोड़ के अपने बालक को।
और कहाँ है ठौर हमारा, सिवा तुम्हारे चरणों के।।
पुष्प हैं . . . .

जब प्राण तन से निकले

प्रभु आकर दरस दिखाना, जब प्राण तन से निकले।
मेरी भव-चेतना मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।

गुरु चरणों की हो स्मृति, हृदय में छवि तुम्हारी।
तुम हमसे न दूर रहना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

मेरे रोम-रोम से हो, स्तुति सदा तुम्हारी।
मेरे दोष सब मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

भय हो न मृत्यु का और, मन में न कोई विचलन।
प्रभु इतनी कृपा तो करना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव चेतना . . . .

यह जीवन दिया तुम्हीं ने, और पालन किया तुम्हीं ने।
फिर गोद में उठाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव चेतना . . . .

हर लेना प्रभु मेरी वृत्ति, दे देना मुझे निःवृत्ति।
मेरे जीवत्व को मिटाना, जब प्राण तन से निकले।।
मेरी भव-चेतना . . . .

●●●

आखिर तुम हो क्या? तुम शरीर नहीं हो, न तुम मन ही हो और न अहंकार हो। तुम इन सबसे ऊपर हो। एक सच्चे साक्षी हो, द्रष्टा हो।

- श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज

BRHAMALIN SHRI 1008

SWAMI PURUSHOTTAMANAND JI MAHARAJ

125th Birth Celebration

(English Section)

Souvenir

2004

hivalinga inside Vasishtha Guha

'Life is short and way too long'

Life is short and way too long,
Be ye traveller quick and smart,
Keep your aim quite fresh in heart
And the way will itself become short.

Mishaps and troubles His blessings are
Take them all with hope and joy
He is all love and mercy great
Waiting to meet all at the gate.

Pack up, pack up with haste in mind
And speed on like a mad man, friend
Looking neither hither or thither
To lay there thyself at His feet.

With blessings from a sincere one
I remain ever all yours.
A seeker of Him who dwells in cave
Purush and Uttam who feels for all.

- Swami Purushottamananda

The above lines are from a letter of Guru Maharaj Ji sent to his devotee late Shri A.K. Vatal in reply to his letter.

What are we Seeking? Happiness

Sri Swami Purushottamananda ji Maharaj stayed a few manths at Allahabad on the banks of the Ganges in the bungalow of a devotee in 1954. A few people interested in the problems of spiritual life used to meet every day in the evening and Swami ji usually gave a talk followed by questions and answers. Notes of what was discussed were taken down regularly which has been published in the form of a booklet titled "Spiritual Talks". The passage given below is chapter I of this book.

Everybody wants something all the time. It may be tangible things like money or children, or intangible things like fame or power. Although the objects which are being pursued are innumerable, the real objective is the same-happiness. Everyone without exception is pursuing happiness either knowingly or unknowingly. Even the greatest statesmen, scientists, businessmen, artists are really seeking happiness through their different activities although they will deny this fact if questioned on the point. The various kinds of satisfactions which come on the fulfilment of desires are merely means of gaining happiness. But this happiness is temporary and partial. What we are in search of is unalloyed happiness which is permanent.

Why is it that although we pursue happiness all the time it always eludes us? Because we take the wrong direction. A pilgrim wants to go to Badrinath from Hardwar. Will he be able to reach his destination if he starts moving in a southern direction? The more he continues his journey the further away he gets from his destination. The moment he realizes his mistake, turns back and starts moving towards the north he begins to approach his goal. The happiness we are seeking is inside us. Within us is the fountain-head of bliss, even a drop of which is quite sufficient to make us fully intoxicated forever and destroy completely our misery and pain. But fools as we are, we believe that happiness is somewhere outside and can be obtained through wife and children, wealth and property, name and fame and consequently we spend most of our life in acquiring these external things. We are like the deer which goes on running after a mirage to quench its thirst and falls dead ultimately without finding the water. We spend our life in searching for happiness and find that life is mostly full of sorrow and suffering. Even the temporary enjoyments are found to lead to suffering ultimately.

●●●

Message delivered by Guru Maharaj Ji on his Birthday at Vasishtha Guha

Seventy ninth Birthday Message on 1st Dec., 1957

'OM'

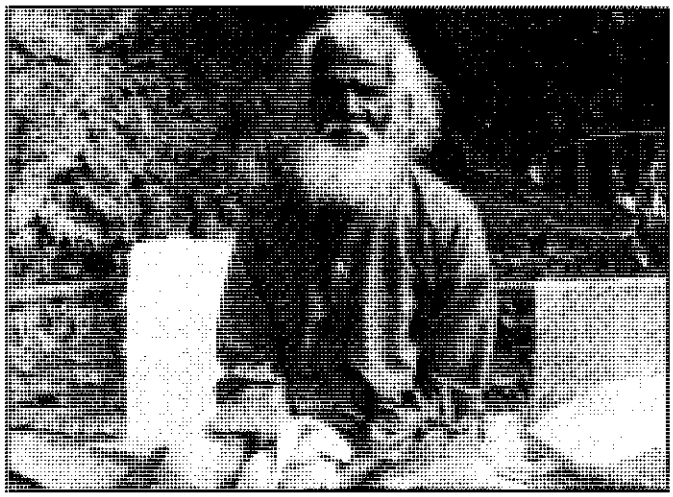

This is the greatest wonder. One thing is always with us. Wherever we go it follows us unmistakably. Do you know what it is- This is what is called Death. When we are to go from here-who knows? But every action of us will make one believe that we are to live and live long. You are at once caught and have to come back again and again. Please do think of this- you are all very intelligent. But do you see you are already in the mouth of Death?

How can you overcome death? It is very easy.Think, think what you are. The fire cannot burn it, water cannot drown it, wind cannot blow it. Yes, you are of that stuff. I am the real Self. All free and All Happy- One without a second.' Everywhere "I" and "I' – Sat Chit Anand.

Please try to realise it.

Eightieth Birthday Message on 21st Nov., 1958

'OM'

What is it that you want? Unless you clearly know it, how can you search for it? There is no doubt that everybody wants happiness alone. Every action seen here is for that – to get happiness. Nobody wants unhappiness, misery or sorrow. The question then is whether you are happy. You ask the whole world. Everybody will say 'I am not happy', 'I have no daughters', 'I have no sons', 'I have no wealth, no property', 'I don't pass my examinations'. You will see that everybody is unhappy. What is the cause for this? When their greatest desire is happiness, why is it that they are getting unhappiness.

Let us therefore examine and see how one can be happy. The difficulty is that you think that all your surroundings are yours even though they vanish the next moment. You say, "He is my husband, my wife, my child, my property" – but whose wife? Whose property? That alone is yours which will remain with you for ever. In things and persons, who may disappear the next moment, you put 'my', 'mine'. So you are suffering. This मेरा मेरा is called 'Maya'.

What is 'Maya'? You put 'my' and 'mine' in the things that will vanish the next moment. You have

no right to call them 'mine'–the things which will go. So everybody is suffering. So even though one seeks for happiness all the time, he is following a wrong way and therefore does not get happiness.

'मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये'

Out of thousands and thousands of persons, one tries to get happiness in the right way. And the happiness, where is it? It is not far away. You need not go to Badri or Kailash for it. It is very near. It is your birth-right. But you do not know that. When do you get happiness, do you know? Now you are all happy, why? Because your mind is calm. So whenever the mind is calm one gets happiness, not from external objects. So make the mind calm in the right way. One embraces a lady and he gets happiness. What is the cause? For a moment the mind becomes calm and quiet. So he feels happy. He thinks it is from the lady. One drinks sherbet or toddy and thinks he is getting happiness from drinks. But really it is from inside that he becomes happy. **So every time you get happiness, you are getting it not from external things but from within and within alone. Please note this carefully.** Just as you get the clear and nice reflection of the sun or moon in a pot of calm and still water and not when the water is shaking, happiness is reflected in the bottom of the mind when the mind is calm and quiet. So know this first. You are all intelligent. Utilise that intelligence. Do not search for happiness anywhere outside. Search inside alone. Go inside.

What are you after all, my friend? What are you? Every day you say 'I' 'I' a thousand times. What is this 'I'. Find it out. The seer is separate from the object seen. This is the established truth. Now I shall take you very quickly to the 'I' – to that real 'I'. Did you understand that the seer is always separate from the object seen. I am seeing you, I am not you. I am separate from you. So here I am seeing my body; I am not the body. You can say boldly and fearlessly that I am not the body, I am apart from it. I am seeing my mind, my buddhi, the ego, so I am apart from the mind, buddhi, etc. So the Rishis have said -

मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं,
न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे।
न च व्योम भूमीर्न तेजो न वायु-
श्चिदानंदरूपः शिवोऽहम शिवोऽहम्।।

I am not the body, nor the mind, nor the Antahkarana. I am that happiness–Sat Chit Anand.

There is something in the body. Though it is inside, it is separate from it. Just as I am separate from you, it is separate from the body, mind etc. So know that. What is the method for that? Do not search outside. Suppose you have got a precious jewel. You do not throw it outside. You keep it in the room in a box and that box in a bigger box, inside, inside and inside. Now if you search outside, throughout the world, just like the musk deer, how can you get it. The kasturi is inside in its navel and the scent spreads outside. So the beast searches outside. It has no intelligence. But you have got intelligence, so search inside, inside and inside alone.

How then to go inside? Know that all you see, touch etc. is untrue. You have not to go anywhere. Have no attachment to wife, husband, property etc. This attachment is hell. Non-attachment is happiness. So be detached.

मनो निवृतिः परमोपशान्तिः

So try to detach from the outside world and go inside and inside. With the Grace of God and Guru and others you shall attain happiness in no time.

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो

And this Atman is not meant for the weaklings. One must be very brave; one must be very strong. Always watch and make the mind stronger and stronger.

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

Eighty first Birthday Message on 8th Dec. 1959

'OM'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्तमा मताः।।

The object of all these - this kirtan, this Bhajan, Puja- is to take the mind to the Lord. The mind is always going out. It is very difficult to control it. So these are the means to take the mind inside. As the lovers think of their beloved while eating, drinking or playing and as the misers think of their wealth, those who want to advance spiritually, must think of the Lord in the same way. They must think of the Lord and Lord alone. There should be no room for any other thought. Place a signboard "No entry; the door is closed."

For all these, what is required is strength, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो". This Atman is not for the weaklings; this is for the strong men. How to accumulate strength? There is a pot which has got five holes and you keep water in it and go to sleep. When you wake up you will find not even a drop of water in it. Whose mistake is it? It is your own. You should have closed these five holes and then if you had filled the pot with water it would have stayed there. Our body is the pot and the five holes are the five senses- (पंचेन्द्रिय). Through these we have to collect strength and through these very Indriyas the strength also goes. When we hear Bhajan, stories about the Lord and good music, we get strength through the ears and when we see the Ganges and holy persons we get strength through the eyes. When we talk about good things, read the Bhagwatam, Ramayanam. etc, we get strength through the tongue. So these are the means if we use them properly; otherwise all the strength goes away. So collect and collect strength. A weakling has no place here or anywhere. Strength is life. We have got this human body. Many, many bodies we have already taken–they say 84 lakhs–and then we have got this human birth. That must be utilsed well. This is the boat to cross the ocean of Maya. We have got the boat and if we do not utilise it to cross the ocean, then we are committing the greatest suicide–आत्महत्या. So utilise every second in the best way possible if you want to become masters. Nobody wants to become a slave; everybody wants to become a master–'I' 'I' 'I' – and this is the way. But you are taking wrong ways. Now take the right way. Know for certain that happiness is not outside. All the happiness you are getting is from inside but you think you are getting it from outside. It is all inside and inside alone. The treasure-house of happiness is inside; so go inside and inside and be happy. And you get 'शान्ति'– perfect calmness. You are all happy now. Why? Because the mind is not going here and there and the mind is perfectly quiet. So this is the way to get happiness.

Truely speaking I had no mind to celebrate the birthday. Whose birthday? I was not at all willing to give trouble to you all in this cold weather but somehow or other it has come off like this. You know the Great Swami Vivekanandji. He has written a book "O, Mother, make me a Man." Likewise let us all become real Men, and not beasts. आहार, निद्रा, भय, मैथुन (Food, sleep, fear and sex) these are common to beasts also. If you are also indulging in these actions only, you are worse than beasts. Why? The beasts have no common-sense and discrimination but we have got them. So utilise this common-sense and discrimination and go above and above and be settled, be fully established in the Atman, the all-pervading Atman. May Lord bless us all !

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'Jnanakkummi'

The Song of Wisdom

This is a translation of 'Jnanakkummi', a song in Malayalam, composed impromptu by the Swami Purushottamananda ji Maharaj during his visit to Kerala in the year 1952. The translation was placed before Guru Maharaj during the last week of Dec.' 60, but the translator (Swami Nirvedananda) had not the good fortune of eliciting his opinion on it as he left Vasishtha Guha soon and returned only after Gurudeva's Mahasamadhi. Later, this was shown to one of his Guru-bhais, Sri P. Seshadri Iyer, a pious man and a well-known linguist of Kerala, who made valuable suggestions and improved the translation. Now this is being presented to the devotees.

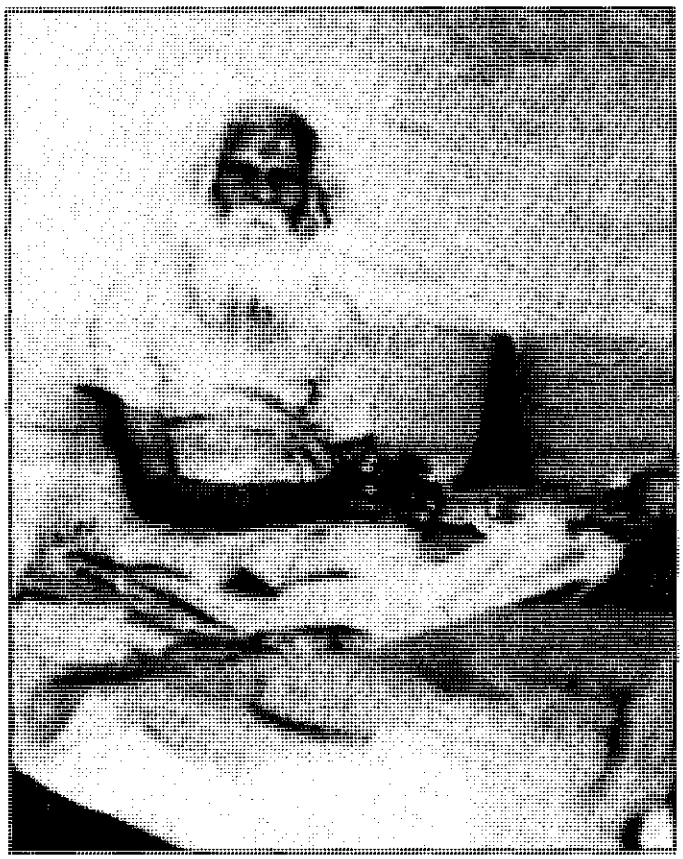

Ye folks ! to attain the supreme goal of life
By dwelling on the Blessed beneficient blue-hued Lord –
And His divine Leelas that free you from sorrows,
Why do you hesitate?

Wasting not the precious moments,
Meditate on the full form
Of Radha's Lord, charmer of Lakshmi, born of ocean of milk,
And say adieu to vanity, delusion and the rest of the ills.

Service unto the great ones, rendered with Sraddha,
A sovereign remedy to cure all ills.
Bringing in its train purity of mind,
Delivers into thee untainted Bhakti and Mukti.

The delusion 'I am the body'
Which turns everything topsy-turvy;
Knowing not the truth of the Self, alas !
Fools are caught in unceasing birth & death

To throw off the burden of Samsara,
It's easy if you but possess
Child-like nature and non-attachment,
Know it soon, my dear ones.

Be no more a 'frog in the well',
Reach the height of the Infinite.
Peoce of mind for ever and aye
Can be attained with utmost ease.

Become a Krishna yourself
By thinking on His form and Leelas.
Desires vanish with all their train
And you'll behold the Lord in all.

'Thou, Narayan, Hari, the One Dispeller of sorrows,
O, Madhusudana, giver of Moksha"
Reverently recite His names ever with devotion
Eternal bliss will come to you.

Sincere devotion, the only path
To reach the lotus feet of Lord.
Resting all hopes in Him, the Lord of lards,
Attain your natural blessed state.

To secure Yaga-kshema[1] to those
Who warship Him with guileless heart,
Kamsa's foe, the chariateer of Partha,
Is ever nearest of all.

Knowing this human birth ta be
The result of virtues of many lives,
Regain the Knowledge Immortal
By seeking the Sadguru's lotus feet.

Yearning to realise Atmaswaroop,
Intensified day by day
"Brahman is Real, false all else"
Will reveal in the heart most brilliantly.

You'll gain a state of unwavering
Even in the midst of quakes violent;
Meditate with real understanding
"Tat-Tvam-Asi"[2] and other great Vedic Texts.

Alas ! Alas ! many a day,
I wandered in delusion of mind.
The grace of the Sadguru shed
Pure Bliss[3] and Peace an Purusha.

●●●

1. Gain and safety.
2. Thou art That.
3. Pure Bliss : The word in the original is 'Nirmal-Ananda'. The last two lines of the original are so ingeniously composed as to serve also as a tribute to Swami Nirmalanandaji, who moulded the composer's spiritual career. – (Tr.)

Restless to Face the Truth

Incidents from Biography of Swami Purushottamanand Ji

'I am going not to Tiruvalla but to Gokarnam where I intend to do Tapasya for sometime. Whatever I have done so far was only to please Swami Ji. With Swami Ji's blessings I am going now to Gokarnam. All is false and I cannot rest satisfied until and unless I come face to face with the truth.' (page 79)

A Peep into The Gita

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

I bow to Krishna, the unlimited and eternal, who, though farmless and birthless, has taken names and forms for the sake of His devotees; who is called by various names such as Vasudeva, Hari, and Govinda; who destroyes in a moment the miseries and hardships of those that fall at His feet and take Him as their sole guide, protector, father and mother.

(Pandit Chand Narain Harkauli of Sitapur was a close friend of Sri Swomi Purushottamanand ji. Swomi ji describes him (in the Foreword) as a sage in disguise. Though in the midst of the world he was quite aloof like the lotus in water. His main spiritual sodhana was the service of Sadhus. Harkauli used to invite Swami ji to Sitapur. Once Swami ji was asked to give some discourses on Gita at his residence. After several years, those seven discourses alongwith conclusion were printed in 1953 in the form of a small booklet "A Peep into the Gita ". The conclusion is reproduced below).

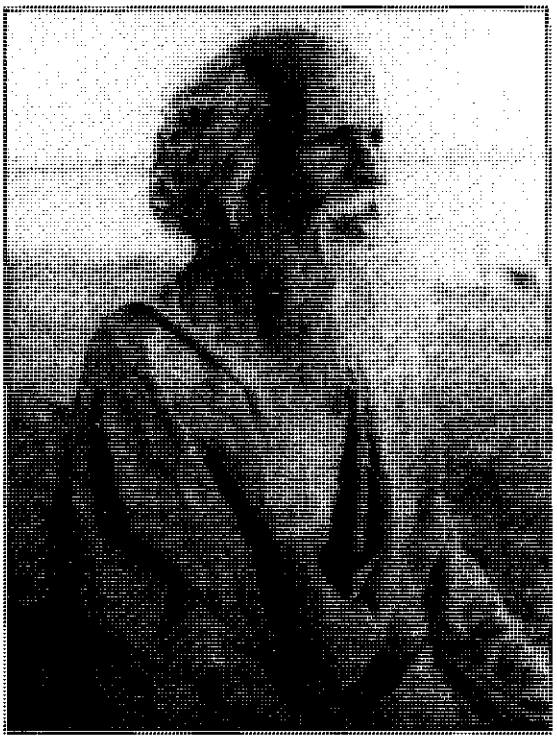

I have tried to place before you some of the salient teachings of the Gita. We want to gain something real को लाभः। आत्मावगमो हि यो वै। What is real gain? Knowledge of one's own Self. Know your Self and be free. This is the object of our life. The world is full of temptations. We are caught in the net of temptations and are ruined. To resist the temptations we must have extraordinary strength. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। This Atman is not meant for the weaklings.

Arjuna was hesitating to fight. How weak and timid he was. But Krishna made him a strong man. Hear what Arjuna declares :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।

Oh Lord, by Thy grace my delusion and ignorance is all gone. I have come to know of my real nature. All doubts have vanished and I am fully established in the Self. I am ready to obey Thy command.

Gita will take us all to this state of freedom, in case we are sincere and earnest. Gita is a harmonious synthesis of all paths-Karma Yoga, RajaYoga, Bhakti Yoga and Jnana Yoga. All these are quite essential for the development of the soul. Our troubles and worries are due to our

ignorance. Ignorance can be driven away only by Jnana. The light of Jnana shines only in the pure mind. All these Yogas are the means to purify our minds. Jnana is of two kinds, theoretical and practical परोक्ष and अपरोक्ष. परोक्ष is the means and अपरोक्ष the end. Let us try to mould and shape our life as Gita wants us to do. Do not be proud and haughty. Observe the rules of Ahimsa, put up with all troubles with a pleasant mood; be straight forward. Seek a real Guru and serve him with your whole heart. Keep your body and mind pure. Do not waver; have a strong determination. Practise control of the mind, do not be running after sensual pleasures. Try to rise above the body idea. Open your eyes and observe the facts of life – birth, death, disease, old age, and the like. Study the world and do not be attached to your so-called home, wife and children. Let happiness come or misery. Do not lose courage. Be always still and calm. Have faith and devotion in Him. Resort to a quiet and solitary place. Do not mingle with worldly-minded people. Make a study of books such as the Gita, the Upanishads and try to understand the spirit behind them.

Thus only, you will come face to face with Him, the Self. This is अपरोक्षज्ञान.

You become merged with the Lord and like the salt doll become one with the Ocean.

OM TAT SAT

●●●

HIRMAL VANI

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

Know your own Self and you have known all. You have come to know Ram, Krishna, Christ, Nanak or Mohammed. You may take them as Avatars still they are not bodies, my friend. They are Spirit, the Atma absolute, you have to know yourself first. Guruji, he is not flesh and blood and bones and unless and until you know your Guruji fully well what right have you to preach the Divinity of the Guruji, your own Self.

Yes, discard Hell and welcome Heaven if you want to attain the truth. This is the initial state. At last what is to discard and what to welcome. You have become the whole. You have realised your Guru Dev. Now we can sing honestly from our heart "Guru Brahma, Guru Vishnu....Guru all in all. He is the only object running in and through the whole Universe and helps its manifestation. Prostration to Thee, my Sri Guru Maharaj who is my own Self.

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

– Sri Swami Purushottamananda Ji Maharaj

Gems from "Thoughts of Gurudev"

Swami Subhadrananda, a Sannyasini disciple, prayed to Sri Swami Purushottamanandaji Maharaj to write a few lines of instructions each day which would be of immense help to her as well as other Sadhakas. At first Gurudev was reluctant but; upon repeated entreaties, he condescended. Thereafter, everyday after his morning meditation, he wrote a few lines in Malayalam in a note book specially kept for the purpose. It became a routine for his disciples to go and read the days advice in his room. Sometimes Gurumaharaj explained that days message. These daily thoughts have been translated by Swami Nirvedanandaji in English and published in the form of a book titled "Guide to Spiritual Aspirants." Some of the teachings are reproduced here.

Is it not happiness that everyone wants? Not knowing where this happiness is, and how to get it, people go after the false worldly pleasures and damn their lives. What a sorry state of affairs ! OM.

ॐ ॐ ॐ

Do you know when happiness is obtained? We eat some delicious food; hear a melodious song; enjoy an attractive dance. On such occasions the mind becomes tranquil. Happiness is in tranquility. And where is this tranquility? It exists in our own heart. When the mind becomes calm, that happiness just reflects in it, even as the image of the sun fully reflects in clear, still water. OM.

ॐ ॐ ॐ

The whole universe is like a mere dream. What all things are seen in a dream ! And, when you wake up, everything vanishes. Just as you wake up from the dreaming state, you have to wake up from the present waking state also. Then the Seer alone remains; the whole objective phenomena vanishes. OM.

ॐ ॐ ॐ

In reality, what strength do we have? We cannot even bend a finger. This being the case, why this bragging of 'I', 'I'? It is through the power of the Lord that everything, good or bad, is being done. Knowing this truth, renounce the ego in all places and at all times, and seek refuge in Him. OM.

ॐ ॐ ॐ

'I am a great lord', 'I am learned', 'I am respectable' – thus do many people arrogate themselves. This indeed causes destruction. The most superior form of egoism is to feel, 'I am the Lord's devotee', or 'I am His servant'. OM.

ॐ ॐ ॐ

All are very clever in finding out the faults of others, but they never think about their own defects. Because of this, they meet with their downfall. But, if one is bent upon finding out one's own defects, and perseveres to get rid of them one by one like thorns, how much happiness the mind would get ! OM.

ॐ ॐ ॐ

Exercise control over the sense of taste. If this is not controlled, it is indeed impossible to control the other senses. If this sense organ is controlled, it becomes easy to control all the other organs. A man who has no control over the senses is verily a slave. If control of the senses is achieved, we become Jivanmuktas. OM.

ॐ ॐ ॐ

Every night, before going to sleep, take stock of the deeds done during the day. If you have done some evil deeds, repent for them and make a firm resolve not to repeat such evil deeds. And pray to God with a sincere heart. OM.

ॐ ॐ ॐ

To purify the mind, Nama-Japa (repetition of God's Name) helps a lot. The more you do Nama-Japa, the better it is. You will get real happiness and peace through this. OM.

ॐ ॐ ॐ

The sooner you develop dispassion for the objects of enjoyment, the quicker will you get peace. Today or tomorrow, you have to depart from here empty-handed, leaving behind all worldly possessions. If one is prepared for this sufficiently in advance, one will not have to grieve at the last moment. OM.

ॐ ॐ ॐ

Honour the venerable, holy men. Serve them. Be eager to have their association. You will continually be acquiring good qualities. Company with wicked men will destroy all your virtues. Therefore, be careful. OM.

●●●

The Voice of The Lord

Incidents from Biography of Swami Purushottamanand Ji

....The Ganges was flowing swiftly below the Dharamsala. There were about thirty to forty steps to go down to the river. It was about two in the afternoon. Swami Ji decided to jump into the river and get rid of the disease once for all. He got up from his seat, went down and stood on the last step, close to water. He looked around. There was nobody nearby. That was the best time to carry out his resolve. He was about to jump into the Ganges when lo! he heard a voice, 'There is a good Bengali physician here. He has cured many diseases by injections. He is a good person and is not avaricious–he is not after money.' He wondered if these words were meant for him. He turned around. There was nobody to be seen. Was it the voice of the Lord to save His devotee? What other explanation could be given for such a phenomenon. (see 120-21)

GREAT SAGE PASSES AWAY*

Sri Swami of Vasishta Guha

From Our Special Correspondent

MADRAS, Feb. 24.—Sri Swami Purushottamanandaji of Vasishtha Guha, 14 miles from Rishikesh, entered into Maha Samadhi on the night of February 13. It was the sacred Maha Sivaratri day. Swamiji was slightly indisposed for nearly a week, but was carrying on as usual. On February 11 his condition became worse. He summoned all his disciples and gave them his final advice and blessed them. The next two days were critical. Doctors found his heart weak and administered medicines. On the last day he was a bit restless and spoke sparingly. After having his last dose of medicine at 9-30 p.m., he lay down and did not speak thereafter. In the midst of the chanting of the Lord's names by his disciples, Swamiji breathed his last at 10-30 p.m.

With the passing away of this great sage of the Himalayas many a spiritual seeker will find the gap unbridgeable. Swamiji was an advanced sage—a Jivanmuktha, always in Sahaja Samadhi, and was a source of solace and inspiration to thousands of devotees. Always of a smiling nature, his mere 'Darshan' brought peace to the afflicted souls. He was 82 at the time of Maha Samadhi.

Born in 1879 at Tiruvalla, central Travancore, Neelakanthan as he was then called was a great devotee from childhood. His religious bent of mind brought him under the influence of Sri Ramakrishna Movement, then taking roots in the soil of Kerala. Severe and repeated attacks of sickness only redoubled his religious fervour. He worked under Swami Nirmalananda of the Ramakrishna Mission for more than 12 years. He was initiated by Swami Brahmananda in 1916 and was given Sanyas by Swami Shivananda in 1923 at Belur Math since when he became to be known as Swami Purushottamananda.

SOLITARY CAVE

After a few years' pilgrimage in the Himalayas the Swami settled in Vasishtha Guha in the year 1929 to spend his life in prayer and meditation in that solitary cave in the midst of the dense forest. His complete surrender to the Lord resulted in the fulfilment of his aim in life, namely, self-realisation. Gradually an Ashram sprang up without the least effort on the Swamiji's part. More than a dozen monastic disciples have been living with him for the last few years; a few more living at different places.

Swamiji was not very widely known. Yet many and varied are the people influenced and benefited by his advice. His love, compassion, child-like laughter, subtle humour and advice on spiritual matters in homely words, all made even a new and shy personality feel quite at home with him. His advice can be summarised in a few words like "Be sincere and true", "Feel, feel for others", Surrender completely to the Lord and remember Him always" and so on. His advice stressed more on Bhakti as a Sadhana. There was a happy blending of Bhakti and Jnana in the Swamiji.

As is the custom with Sanayasis, his body was given to Jala Samadhi in the Ganga flowing nearby after Abhishekam and Arati. It was attended by a large number of Sadhus and householders who had come from Rishikesh and nearby villages to pay their last homage to the great sage.

Special Pooja in connection with the sage's Maha Samadhi will be held at Vasishtha Guha on February 28 which will be attended by his disciples and devotees from all over the country.

**Press release on Mahasamadhi of Sri Swami Purushottamanandji Maharaj*

Ocean of Devotion

An Incident from Biography of Swami Purushottamanand Ji Maharaj

...He [Neelkanthan]1 was overcome with joy. But the consciousness of his own position made him nervous. He was a poor man, not fit even to go near Swamiji2. He had nothing to offer, except a Tulsi Mala. "Would Swamiji accept that? How will I get an opportunity of touching his feet? He was immersed in these thoughts when Swamiji, pointing to him, asked "Is he not a devotee?" That was enough for Neelkanthan. He was imbued with courage and immediately brushed aside all idle thoughts. He got up, sprang to the dais and prostrated himself at Swamiji's feet. In fact it was not a prostration, he put his head in Swamiji's lap. Without realising it, he was placing all his burden even today. This is not easy for one to realise the depth of such devotion to the Guru. Neelkanthan felt that he was received as a young child by a loving father and with that thought all his worries vanished.

1 Neelkanthan—The name by which Swami Purushottamanand Ji Maharaj was known till he took up Sanyas.
2 Swami—Swami Purushottamanand Maharaj.

Conversations with Swami Purushottamanandji at Ramkrishna Math, Madras

During the year 1951 Swamiji went to Delhi where he stayed with a devotee for a few days. From there he proceeded to Madras and stayed in Ramakrishna Math. The Swamis at the Math were glad to see him. Some students who used to come to the Math regularly, met him everyday for Satsang. Swami Kailashanandaji the President of the Ramakrishna Math at Madras had pressed him to come on his way back to North India. So leaving Ottapalam and bidding farewell to Kerala, Swamiji reached Madras Ashrama and from there he moved to nearby Ramkrishna Math at Conjeevaram. The conversations of Swamiji on these occasions are given here.

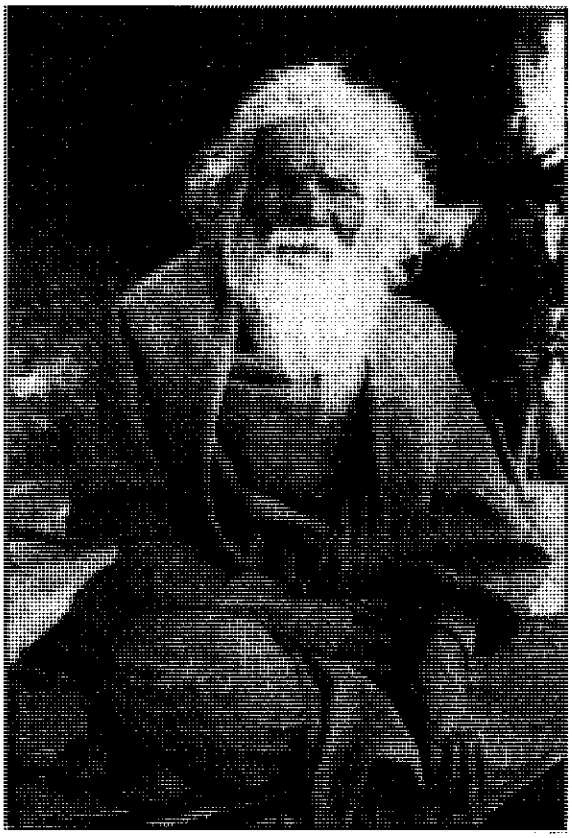

Question : 'Maharaj, there are so many conceptions of the truth, that we get puzzled very easily.

Swami Ji : "Why so? Truth is truth. It cannot be many. In order to avoid confusion you take one being for experiment. In the ocean there is so much of water. But if we taste one drop we know about all the rest. Just the same way, you take yourself and know who you are. When you know this you know about everything."

Question : But Maharaj what about this world around us? Is this real or unreal?

Swami Ji : "First find yourself. Then you will understand everything. Then alone you are capable of saying whether this world exists or not. Till then you must not say that this does not exist. This world is real . . . real. Till you find something more real than this, you must not say that this is unreal."

Question : Then how to proceed?

Swami Ji : "I was always happy and joyful (in childhood). Then slowly grew up into man, then older and older. Now you see, these grey hairs and wrinkled face. Even now this is changing and dying. But you see, I have been witnessing all these changes one by one. I remember my boyhood, manhood etc. So this naturally implies that I am

the same witness throughout watching all these changes. The X who remembers his boyhood is still the same X. He is conscious of himself. If you say that he is not X but has changed with time, he will disagree. So you now understand everything .... is it not?"

Question : Maharaj Ji, this is only theoritical. I am not satisfied.

Swami Ji : "At least you have understood this as you do when I say 7+5=12."

Question : Yes, Maharaj?

Swami Ji : "Just see. I am looking at you. This implies I am separate from you. Is it not? Now I am looking at this hand so I am not the hand. I am looking at this body. I am conscious of this body. So I am not the body. I am seeing my mind...."

Question : But we do it only at times.

Swami ji : Why, always. I am seeing the mind always. So I am not this mind. So I am something else than these. This body is always changing. Every second it is dying, dying, so it is our duty to find out whether there is anything in this body which does not change. It is your duty to find this out. When I was a young boy my body was strong. I knew no misery. Now this is enough. Now go and think about this. (The same day evening after Arati).

Question : Maharaj what is the significance of Japa?

Swami Ji : "(Laughing again and again). Now you see. You are changed. I told you something in the morning and asked you to think about it, But now you ask about something else."

Question : But Maharaj our minds are not yet settled. We think of one thing now and quite another thing sometime hence.

Swami Ji : "(laughing) I wanted to settle everything when I talked with you this morning. But you are still unsettled. Alright do you have faith in doing Japa? ..... have you faith?"

Questioner remains silent.

Swami Ji : Sraddha ..... Sraddha (repeats). This is what is required. If you have faith in what you do then you will achieve everything. (After pausing .....) This is all kindergarden method. Not the final. If you want to pass the M.A. Examination then you have to study first in the montessori class, then the high school and so on. But this is not the end itself. The end is M.A. degree. You have heard this saying "It is good to be born in a church but it is bad to die there."

Morning .....

Swamiji: This body is dying, dying, every moment. It is our duty to find out whether there is anything unchanging inside this. All puja, Japa etc. are nothing but worshipping the Self. Since you are unable to conceive of yourself at the beginning you take an image or a form and meditate on that or worship that after making yourself merge in it. Then you take back the self to the source. This was the case with Sri Ramakrishna. He worshipped Mother, and become one with Her. So Sakara or Nirakara are both the same. There is no difference.

Question : Maharaj, But how can you meditate on the formless Self? Is it not difficult?

Swami ji : Why ? I am able to do it. It comes by constant practice.

Question : But how can one meditate on the Self, Maharaj?

Swami ji : It is experiencing the Self. See ... though I am laughing and talking with you, I am not laughing or talking. As I told the other day my mind has become absolutely silent.

Night (After Arati).

Swamiji : What is Bhakti? People are talking about Bhakti so much. But who knows what it is? You can say it is intense love for the Truth or God, as you may call it yearning ..... yearning will lead you to the Highest.

Morning .....

Question : Maharaj this becoming witness is very nice I like that method Maharaj.

Swamiji : (laughs heartily) You see ..... This is a great secret. Nobody will tell you of these things. If you constantly become witness then your mind, will become calm and you will attain peace.

Question : Then do I need any other initiation, Maharaj.

Swamiji : (laughs) This is initiation. This is the goal of all initiation ..... life long Japa meditation etc. are done only to reach this state. (laughs again and again). You can be anywhere you like in the house or anywhere. But you must not attach yourself to anything. This is the method, path ..... Now you have to walk. I can prepare nice dishes and give it. But it is your work to eat and digest it. Digest .....Practice ..... Practice counts. Abhyasa will give you everything.

Evening . . . . .

Swamiji : Now are all your doubts cleared?

Question : Slowly, slowly Maharaj. But how to reconcile the Sakara and Nirakara aspects.

Swamiji : I told you both are the same. Follow both according to your moods. You do not know what is "Nirakara". What you think as 'Nirakara' is not Nirakara. Thoughts also have forms. Do you understand?

Question : Maharaj, whether I am Sakara or Nirakara I do not care as to my nature. It is enough to know that I exist as a witness. Is it not?

Swamiji : (laughing) Yes ..... Yes ..... whatever you are, you exist. Is it not? You are 'you', no doubt about it. Is it not?

Question : Yes, Maharaj. I am I, Is this sufficient?

Swamiji : (laughs again and again) Yes ..... Yes, this is more than sufficient. This is a lofty state.

Morning . . . . .

Swamiji : You are all attracted towards me. Is it not?

You feel like coming to me. Is it not?

All say : Yes Maharaj really so.

Swamiji : That shows that you are attracted towards God. A sadhu – a true sadhu is the Lord himself. So you are all blessed.

After meditation :

Swamiji : Drink deep. Drink deep, Be intoxicated. Brahmacharya alone will lead to the Highest. Bramacharya means "being absorbed in Brahman". Its sexual form is what we usually call Brahmacharya .... continence. You can marry ..... if you like. But you must not become slaves of flesh. Because good house-holders are lacking now, good Sadhus are also lacking. (They are unable to find out who good sadhus are). Going to women on particular days or at the stipulated time etc. is a very good practice to be observed by householders. This is also Brahmacharya for they have to control their passions at other times. Strength, Strength. You must be strong enough to control your senses. Distinguish between what is good and what is bad and choose the good alone. Good and Bad are after all relative terms. There is no such thing as absolutely good or bad.

Question : Maharaj, we don't want to become householders. Bless us Maharaj that we may not lead a married life.

Swamiji : Why, I am not pressing you to

marry, I merely say that marriage is not bad, provided you don't become slave to your passions. We are lacking good householders. So there is no harm in becoming a good householder.

Question : But that is not our way, Maharaj.

Swamiji : Then all right, what is there? If you think for sometime you will yourself see that it is nothing but nasty stuff. You look at the body of a girl. It is nicely covered with beautiful sarees and ornaments and you are carried away. You fall as the insects which are attracted by a flame and perish there. But if you ponder for some time you will realize that the girl's body is as nasty as any other body. Sweat and other secretions are all there. Nasty body...but nicely covered. So take care.

Question : Maharaj, at times we use physical force to bring order in my house because my mother is insane. Is it right?

Swamiji : Non-violence should not make one fool. You see, you must be strong and act when necessary. Supposing a man comes and threatens to take the life of some of us. We must cut him to pieces then and there. This is non-violence. If you see him killing somebody and keep quiet it is violence. Do you understand? This term non-violence means different things under different conditions. I shall give you another instance. Suppose one person is chasing another to kill him and the latter takes refuge in my cave telling "Swamiji, if that fellow comes tell him that I am not here." Then I will tell as asked by him. This is not falsehood. Because by telling it I am saving one life. You must discriminate always and be strong. Sri Krishna being requested by Arjuna and Duryodhana to join their respective armies told that he would not touch a weapon. Duryodhana left dejected. But Arjuna said his mere presence would be all in all for him. Then when the fight was going on, Bhishma threw a deadly weapon on Arjuna and the latter was about to be killed. Seeing this, Sri Krishna took up the weapon to save Arjuna. Well, falsehood looses its meaning here.

A hearer raises some objection and says, "If an enemy comes to slay my friend, I will first offer myself to him and then if he likes he may kill my friend also after killing me. Because the Self is in the enemy as well as in my friend, I will not resist as you have told me."

Swamiji: (laughs and says) You see, .. we are not always in the Self. When we fight and do all these things we are in Maya and assume all these things as real."

Swamiji comes to the Beach shore and is very happy. He asks us to sit a little farther away. He takes a bath in the sea and feels happy like a child. He sits down on his seat and asks us to keep quiet. Day passes into night. It is getting dark. All is peaceful. We get absorbed in his presence. After an hour he gets up from his seat and we started back.

Swamiji : This is the place for meditation. So nice, so nice, One easily gets absorbed, intoxicated. Drink deep the love and get intoxicated. This idea is so nice you can write even a poem on that.

Question : We can write poems, but where is intoxication, is it so easy?

Swamiji: (laughs heartily) It is nice, all nice. After some lapse questioner asks him, "Do you see the Self everywhere Maharaj?" Swamiji remained silent smiling and then says, "it is nice, it is nice."

He talks with us as we go and says "Daridra Narayna Seva" as started by Swami Vivekananda is very excellent. But the Sewa should be done with the proper spirit.

Question : Yes Maharaj and this spirit comes only after realizing the Truth, is it not so?

Swamiji gets serious and says, "You talk too much, you must remain quiet. You must be a one speaking little.

Morning :

Swamiji was saying 'OM OM' as is always characteristic of him. We asked him what is this 'OM'. He said. "This is an aeroplane which will take you to the highest in no time. See the body as I utter that syllable. He utters prolonging it and we see his stomach going inside. Then we tell him so and ask him again what the significance of that syllable is. He says, "It cannot be told to all and sundry. All cannot go by aeroplane, you see. Some can afford to go abroad only in a ship. We asked, "then we have to travel in a ship, rather by boat. We laugh through we get affected.

One says: Maharaj X says he feels very blissful in your company and is in raptures over it. I don't feel anything of that sort and so I feel very sorry over it."

Swamiji : (laughs again and again and says) "At least you feel like coming and seeing me. Is it not? "That of course I do" is the reply. "Then that is sufficient. It shows you have inclinations towards this side."

When somebody feels sorry at the thought that the Swamiji would leave all of us very soon, going outside Madras. Swamiji says, **'Do not worry.' Though I may be physically away from you. I will be with you mentally always. I will remember you all".** We feel very happy and consoled.

Evening :

Swamiji was returning from the beach "You see, so there are thousands of ways of reaching the Truth."

Question : Is it really so, Maharaj.

Swamiji : Yes, Yes.

Question : Be it so. But let me have a wish to go by these paths, Maharaj that is more than enough. I at times feel that I am lacking that wish.

Swamiji: (laughs and says) "yes" yes one must have that desire, you see. That desire will lead to the Highest. 'X' says that he has got doubt whc Guru is? Swamiji replies. No doubt, Reach that state, reaching which all doubts vanish, all Karma is burnt and all misery flies. 'Knock at the door and It will open'.

"Men are carried away by this world, you see. It is like a mirage. The deer sees the water in the mirage and madly runs after that, and dies there. So you have understood. Man is not satisfied with what he has. Today he possesses something. He wants more, still more just like the deer running towards the imaginary water. This thirst is never quenched. As the mind grows stronger and stronger, you will understand that this world is equal to nothing, almost nothing. This is not at all permanent. A man builds a nice house but tomorrow the house may go or he may die. Supposing I have a servant about whom I don't know fully. He may be a thief and a swindler and may be always thinking deceiving me and ultimately bring about my ruin. Now, on whom lies the fault? On me, because it is my duty to understand him thoroughly and we trust him. So also you see this world is at your disposal. If you do not understand fully its impermanent and unreal nature you are at fault. You will suffer like the master who trust an unknown servant. So always discriminate and find out that which is permanent amidst this change. Spirituality is that turning back from this mad pursuit. This does not mean wearing Gerua. You see there is absolutely nothing in this."

So many put on this and still go on dreaming.

Yours is to get rid of this dream. What is there in colouring the cloths? Colour your mind first. "Be in the world, but not of it. "After this Swamiji became serious and in the course of the talk, he said "Weapons don't pierce It, nor fire burns It, Water cannot touch It." And says (laughing) "What to speak of drowning."

We came to the Math and being sunday there were many waiting to see Swamiji. He sat with all of them in the hall. Some of them were householders and one of them had his family with him. Swamiji was all kindness towards them and said about the vanity and impermanence of this world. He told about trusting his unknown servant and about the man building the house.

"Seek the Lord, Seek the Lord ... but where? Inside yourselves. Man vainly searches outside. When we go to the temple we close our eyes. You see everything is within." A gentleman comes and prostrates before Swamiji. Swamiji asks him abrubtly, "What do you want? He says. "Peace of mind." "Where will you have peace?"Swamiji asks, "except by knowing That which is all Peace. Happiness is in peace alone. Suppose a boy embraces a beautiful girl he is momentarily peaceful and hence he feels bliss. But out of temporary peace only temporary happiness can result. If you want permanent happiness, **you have to seek permanent peace which is inside yourself.** Do you understand?" All started to go and some of them prostrates. He asked, What do yau want? What do you want?" Some body says, "your blessings. Maharaj"

"Blessings" He says and laughs .....

•••

Satsang with Sri Swami Purushottamananda at Ramkrishna Math, Madras

Morning about eight Maharaj is sitting in his room reading the Brahma Sutras. Whenever he feels like reading he reads Sankara's commentary on the sutras. He closes the book and keeps quiet. "Do you want to hear something?" he asks. We feel happy and are eager to hear. He says, "Yagnavalkya had two wives Katyayani and Maitreyi. He had also much property, cows, etc. At one stage he felt like renouncing all that and dividing his property. He gave one half to

Katyayani who accepted it happily. But Maitreyi asked, "Why are you leaving all this and going away". He replied, "My dear, I like to go to some lonely place and be in touch with that Truth which I know." "Then can I also know that Truth," asked Maitreyi. "Yes, my dear" he said, "all these days I loved you but now I love you more". Maitreyi then asked him, "Well, will all this property which you have given me enable me to find the Truth?". "Never, not even in dream can you find it by possessing all these". "Then what is the use of all these? Keep all

these to yourself, I don't want it", she said. Swami continued wherever there is love, it is love of the Self. When you love God you are loving yourself. (After his return from the South Indian Malabar tour, Swamiji came back to Madras to please his devotees. He stayed there for two days and then started for the nearby town Conjeevaram. There he stayed in the Ramakrishna Math and some of us happened to be with him. Swamiji was at home in the Conjeevaram and enjoyed the stay very much. It was Sunday and there was as usual some religious discourses fixed for the evening. Swamiji in the course of his conversation with the President told him, "I shall talk today on the 'Essence of Bhagavata' you see, no-body knows it now-a-days? I shall give you a new and the correct interpretation of 'Bhagavata'. Put up a notice I shall be ready by 5-30". The President and others were much pleased and the meeting was arranged. The following is the gist of Swamiji's address. "The mind of great men is always very soft, as soft as butter. Butter melts only when it is heated but you know the mind of sadhus melt when others' minds are heated. You know the case of Swami Vivekananda when he was in America he was placed in princely surrounding, amidst all sorts of luxuries. As he was lying there in the silken couch, the thought about his suffering countrymen passed through his mind and he at once broke into tears. Veda Vyasa was also such a great man. He knew truth expounded in the Upanishads but felt that the subtle philosophical truths found in them would be difficult. Do you understand? I love you because you are doing some service to me, you see (although), when you love God you want something for yourself, you see. So all love is love for the self."

Question : Then can't you love us, even if we don't serve you Maharaj?

Swamiji : It is all a projection, you see! Love is my nature and that love is projected on all. Here there is no hatred, it is all love. When the Lamp is taken anywhere it projects a light. You see, darkness flies whenever the light comes. Saying this the Swamiji laughed. We all enjoyed this statement and felt his infinite grace and love. Afterward he said "You see, you have to give your whole mind to the Self. A part of the mind to something, another part to something else and so on won't do. You have to remain completely absorbed in the Self. If I have a cup of tea, I must drink the whole cup, not partly. Do you understand?"

Question : One says "Maharaj you are going away so far. How are we to meet you again.

Swamiji: "Am I far? Am I going away. Ask 'Y' he will tell you. Mentally you will always have my presence. Surdas was a big devotee to Sri Krishna. He was blind. Everyday he used to do puja and Sri Krishna daily came and prepared the sandal paste. Surdas was observing this and felt annoyed. He managed to get hold of that boy Krishna once while he was preparing the sandal paste. But the boy managed to slip away from him. Surdas then said "Well! you have escaped physically from me and then you are clever, poor boy. Get away from my mind, if possible. If you can do that I shall think you are strong." We all laughed on hearing the story. Swamiji stopped talking and some devotees took leave. Afterwards a Brahmacharin of the Math came and sat down saying "Now I am free. I have finished all my works". Swamiji said, "Work, work, this is not intended for the lazy, you see, Arjuna wanted to avoid work. He wanted to take leave and go away."

Question : In the Gita the Lord says

नमां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलेस्पृहा

very nice is it not?

Swamiji : "Yes, yes but he is the Lord. You see not 'मां' means the Lord. You have to experiment

work on and find out what that 'मां' is. This is all." After sometime, we prostrated ourselves and took leave to assimilate and digest by ordinary minds. He felt deeply for the 'ordinary' rank of men who would not be able to understand Upanishads. The Divine Saint says, "Narada came to Him and seeing his unselfish heart told Him four stanzas and asked him to expand them into a book. This book afterwards came to be called, "The Bhagavata". When I was boy I used to read Bhagvatam and enjoy all the stories in it. They were nothing more than nice romantic stories, at that time. But afterwards when I grew old and went to the North my views were changed and my mind had become ripe. When I read 'Bhagvatam' at that stage I found quite different picture in it. I found all the subtle Truths in the seemingly simple stories.

For instance you have there the story of Yasodha trying to bind the child Krishna with a rope. She tries her best but the form of Sri Krishna assumes such large proportions that she fails in her attempt. She realizes her vanity and pride and falls at the feet of the Lord with humble devotion. The Lord atonce assumes the child form, and now two feet of rope sufficient to bind him. What do you understand from this? Man in his height of pride thinks that he will understand everything about God by his sheer effort. But see, unless He himself out of his infinite grace makes himself known to his devotees they don't see Him."

In the evening while going to beach someone tells : "Maharaj, I have got one year more of study. I have to push on with that. And it seems hereafter my mode of life will change since you have placed me on a new road. I don't know how to proceed along. **The Swamiji remained quiet for sometime and then said, "Meditation is the source of all strength. A teacher will become a better teacher by meditation and student a better student by meditation you can yourself do this.** If you do not understand sit down and meditate for some time, matter will become clear. By meditation the mind becomes strong and the Truth is intended only for the strong, not for the Weaklings".

After Arati some devotees were talking with the Swamiji. One asked about psychic powers, "whether they were real?" Swamiji said "Yes nothing can limit that power. It can crush the whole world. But I don't care for these things, you see".

Question : Maharaj, they say that the Guru's grace is necessary to make any progress. Is it true?

Swamiji :"Yes, yes, The Guru's grace is absolutely essential. But you have to work, you see. The Guru is the guide, he said, "When young calf says 'Hum Hum' it is beaten and put into all sorts of troubles. When finally it dies and its hide made into drum it sounds 'Thum Thum'! I can tell you many instances to this point but time does not permit."

So it all amounts to this.....a thorough analysis of yourself. When you analyse yourself you become free. There is no birth for you and no death for you. You become free at that very moment. And how to analyse oneself. You see 'X'. This means you are different from 'X' see your body, hence you are different from it. Do you understand? It is so simple. You see your mind sometimes wandering sometimes calm, sometimes happy, sometimes dejected.....always changing. So it is clear that you are not the mind, similarly you can feel as you go on meditating that you are not the intellect or the 'ego'. This is all religion, and this is the message of the Bhagavatam."

"Even for learning secular things you require a guide. How much more in this matter where

everything is very subtle and unknown. The Guru will give you everything through his grace. But you have to eat and digest, you see, "A gentleman's wife (a doctor) asked Swamiji, "I have heared that Swamiji and other disciples of Shri Ramakrishna saw him many times after his physical frame. In the same way have you seen your Guru in dreams etc. after his physical death". "Yes, Yes, I have seen him in dreams etc. many times. But I don't bother about these things, you see. A stage comes when the disciple becomes transformed and becomes one with the Guru. After that he himself becomes the Guru of many". **Another time Swamiji said, "The mind must be made silent. Then the self will reveal itself. Supposing you have a reflection of the moon in water. When the water gets disturbed the reflection is not perfect. Do you understand?**

Morning.....Maharajji was reading the Brahma Sutras and all were assembled. He told a Brahmacharin, "Suppose there is a very rich man with good heart and he sees some hunger stricken begger. Will he keep quite satisfying himself with the riches he has. No never, his heart will make him help the hungry begger and make him happy. So you see, whenever I find earnest souls sincerely trying to seek the Truth I at once show them everything and help them to reach the Truth. That is my nature. If I have Rs. 10/- with me, if you do not have anything I need not go and ask permission from another. I can help myself (to give)." Afterwards a house-holder disciple of Swami Shivananda of Ramkrishna order came and prostrated himself before the Swami. The Swami became very happy and patted him on the back with love and affection. After some silence the Swami said, "The devotees of the Lord are your relatives not others." The householder devotee; "Maharaj, it is so difficult to be completely resigned to the Lord, only rarely we feel that we are His.

Swamiji : "Yes, Yes. The Lord does 'everything'. What are you? So little, so small. This false 'ego' should be completely rooted out, worst enemy. What you call "me and mine" are not yours. At any moment you may have to leave them all. They are so impermanent. Sri Guru Maharaj used to say. "When it cries 'HUM HUM' (I.I) it is beaten and tortured, its mischiefs do not vanish till it dies and the skin is made into a drum and beaten. Then it says "Tuhu, Tuhu" Thou Thou and its sufferings are over." Thereupon the gentleman asked Swamiji about his experiences. Swamiji smiled for a while and then said, "You see, my experience? Always calm and quiet.....calm and quiet.

Question : Maharaj may I know anything about your Sadhana.

Swamiji : (After some silence) "It is the desire that counts. Desire is Sadhana. You must be earnest and sincere to the backbone. Then you will achieve everything. You must give your whole mind to God." "Give your whole mind to me and be devoted to me. Take shelter in me and bow to me of and on. I tell you the truth, if you do like this you will surely reach Me. You are very dear to Me (Gita)." Swamiji repeated this Sloka in an absorbed mood and said, "This stanza is very nice. It will help meditation, you see, you require ideas to meditate without any idea what is meditation. This idea is very good for that purpose. मन्मनाभव, the Lord says. Arjuna still doubted him, you see. It was Krishna who made him his disciple. Arjuna was not willing, you see इष्टोऽसि में दृढ़मिति you are very dear to Me."

After some time Swamiji told the gentlemen "You must have a little hut, you see, not for away from your house. You must spend your days there. Take your meals in your house and run back to your hut. The attachments are so strong, that it will take sometime for you to know everything. Nothing comes all of a sudden, you see. But this living separately from you- house is very necessary,

for you. It is necessary. The householders have also a blessed advantage, you understand? All Brahamcharies, Sannyasis and Sadhus depend on householders. And this service of Sannyasins will have its effect. You see, this itself is a great sadhana. There was a friend of mine who was inefficient lawyer. But he loved Sadhus very much. One year before his death he left his house and lived separately. Shaking his head and served whoever Sadhu came by the way. He gave a big Bhandara to all Sadhus and I also was there. In the afternoon he ordered his servant to bring some sweets and offering them to Sadhu. Then, he keeping his head on the Sadhu's lap and saying OM OM OM he died. Such is the greatness attained by Sadhu Seva. Some time prior to meeting with the above householder, a monk came and enquired the Swamiji, whether he slept well at night. Swamiji said, "(I) Sleep very little, you see. Meditation itself gives sufficient rest to the body and mind.".

Question : A young man asked, "How many hours can I sleep Maharajji

Swamiji : "Yes, yes, you require six hours of sleep and for the rest meditate, meditate.You know the beach is the best suited for you. You can come to the shrine and meditate if you like. But the beach is better. You should always meditate privately. Do not make a show of your religious practices. One should also read good books, you see."

Question : No Maharaj I won't read any book. Books mislead very easily. For me whatever you have uttered is sufficient. I will push on with that. You read the Brahama Sutras knowing fully well what the Truth is. So you will not be misled by anything. But we are not safe. We cannot find out which is correct.

Swamiji : You can read the Gita. It is very nice.

Question : But even there we cannot interpret the teachings in the correct manner, that is the trouble.

Swamiji listened to all this and sometime afterwards he said. "Of Course there is not much in books. Everything lies in practice. An ounce of practice is better than tons of theory." Sometime later Swamiji told, 'You must love your mother and serve her. If you cannot love her whom will you love?'

Question : "I don't want to love anybody. If I can love that then what is the necessity of loving hundred thousand things?" We all laughed saying this and in the loudness of the laughter Swamiji was unable to make out the above question. Then he continued a sloka : The meaning : **Even the greatest son cannot repay the debt to her who carried him in her womb for ten months, eating undelicious food and weakening her body. Who suffered unbearable pain at the time of birth. To her, the merciful mother, we all bow down.**

Another morning when we are all seated near Swamiji, he enquired one about his health which had recently gone down. He replied that he was feeling better and that he would stay for some months in his village at Tanjore and was sure becoming hale and healthy.

Swamiji : "Village life is very nice and you see, whatever you get is pure. Pure Air, pure water, pure food, pure milk etc. you must get back your health. Good Health is one of the pre-requisites of spirituality. The first tool for spiritual practice is the physical body. Without a healthy body, you cannot make much progress. "

Afternoon :

Swamiji was lying in the hall. Questioner was alone with him.

Question : Maharaj (saying a Sanskrit Sloka)

OM PURNAMADAH PURNAMIDAM PURNAT
PURNAMUDACHYATE PURNASYA
PURNAMADAYA PURNAMEVAVASHISYATE

OM SHANTIH, SHANTIH, SHANTIH

What is the meaning of this ?

Swamiji : "That is purna, full. This also is Purna, full. When This is subtracted from That Purna That remains still Purna. That is Brahman. This is Jagat when Jagat goes, Brahman still remains. Do you understand ? Suppose in the evening there is a rope and you see it as a serpent. The rope is purna, it is full. The serpent also is purna full as long as you see it. When the serpent goes and you realize that is merely a rope then the rope remains full. Do you understand? "

Question : Yes, Maharaj, but the serpent is only an imagination. Is it not ?

Swamiji : "Yes, so also this world is only an imagination. You see, this is a dream. This does not exist."

Question : But Maharaj I see this nice pillar here the paved floor and all these. Do not these things exist.

Swamiji : "No, these things don't exist. In fact that is the Truth to be realized by you. When you dream as a King, you only wake up in the morning to see what you are. The kingship is a fiction. The Truth must always remain the same. You see, it cannot change with time, since what changes with time can not be the Reality.

Question : Maharaj, is fasting good?

Swamiji : "Yes, really so. Once in a time if you give complete rest to your digestive organs they will bless you."

●●●

Flash of the Truth

Incidents from Biography of Swami Purushottamanand Ji

.....Life was happy at Swargashram. One day when Swami Ji went for Bhiksha he learnt that a feast was being given on that day and food would be served late. Instead of retruning to his Kuti, Swami Ji entered the nearby jungle. Going deep into it, he sat down for meditation. He experienced a very blissful and deep meditation. To quote his own words "[illegible]" (All this is pervaded by the Lord). There was a flash of this Truth. Realising that all this is the Lord ([illegible]), the sense of duality vanished and even the inanimate objects seemed animated by the spirit of the Lord. As a result of this realization it became impossible to pluck even a leaf. This condition lasted for a few minutes only. It was the beginning of my journey in the spiritual field. I felt I am standing for election to the Lord's parliament". Later on Swami ji narrated this to his friend, Swami Sivananda Ji (founder of Divine Life Society.) —[illegible]

Sundry Incidents (Experiences) from "Life of Swami Purushottamananda"

Swamiji's 'Atma Katha' (Autobiography) in Malayalam was published in 1955. Based on this, "Life of Swami Purushottamanand" was published in 1959 in English. This book in the end under the Chapter "Epilogue" gives certain incidents not related in "Atma Katha" and brief account of his day to day life as section A-Sundry Incidents (Experiences). These are reproduced here for the benefit of readers

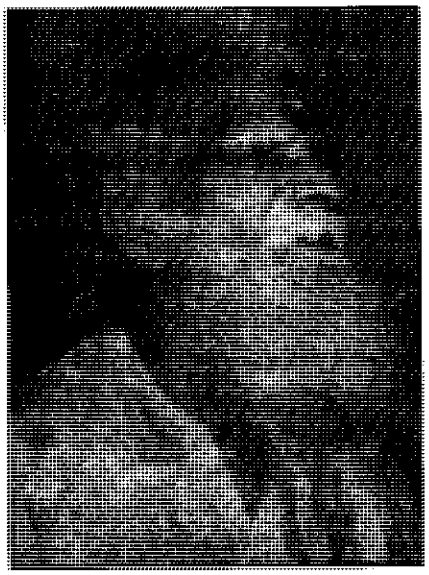

Swamiji was blessed by sages from early boyhood. He had visions also. There is a Peepul tree near the famous Triuvalla temple which Swamiji visits and prostrates himself before, whenever he visits that place. How this became a sacred place for him is mentioned below.

When he was boy he used to sit on the platform under the tree and recite the Bhagawatam every day. This was before he came in contact with Swami Nirmalananda. Many people, old and young, attended his recitals. One day he was sitting alone and meditated under the tree. All of a sudden an old man, looking like a Sannyasin, appeared before him and gave him some spiritual instructions and blessed him. Then the Sadhu got down from the platform and disappeared within a minute or two. Swamiji tried his best to find him out but could not see him again.

◆ ◆ ◆ ◆

Another time, on a Shivaratri night, he was in the temple. People who were keeping vigil, were sitting all around and reading some religious books. Swamiji happened to pass by a person who was reading the Bhagavad Gita. He was reading without understanding the meaning. He had no knowledge of Sanskrit either. He was, in fact, butchering the sacred text. Swamiji corrected his pronunciation. He was attracted by Swamiji's personality and requested him to explain the text. Swamiji (then Neelkanthan) complied with his request. Others who were reading scriptures nearby, happened to overhear his explanation and were attracted by it. They closed their books and came to listen to him. In a short time a huge crowd assembled and listened to him attentively. The first chapter was finished and he was reading the second. When he reached Sloka 69 he found he was unable to explain the meaning. He was embarrassed. To avoid creating a bad impression on the audience he thought of a trick. He told the people that it was already late, so he would continue on the next day. Immediately an old man, with long hair and grey beard got up and said. "Just explain that sloka and we will disperse." Neelakanthan was pale. He was quiet for a minute

or two. Suddenly the meaning of Sloka flashed across his mind and he explained it. All were pleased. The old man came to him and placing both his hands on his head blessed him. He then passed the hands affectionately over his face and said, "My boy, your explanation was excellent. I am very pleased. You will become a great man some day. May Lord bless you." Swamiji belives that he was Tunchath Ezhuthachan who lived in the 16th century A.D. He was a great Bhakta and has translated Adhyatma Ramayana, Bhagavatam and some other scriptures into Malyalam. When he passed his hands over Swamiji's face and body, the latter felt a current passing through him. Even today when he describes the incidents, his hair stand on end.

◆ ◆ ◆ ◆

Now-a-days we see Swamiji when he has reached the zenith of his spiritual life and is in Sahaja Samadhi. He laughs and laughs like a child. But until a few years back he was not so. He never allowed his own disciples to stay with him whether they were Brahmacharins or Sannyasins. To stay with him was like walking on a razor's edge. He would not tolerate laziness or carelessness on the part of disciples. If the vessels cleaned by them were a little dirty, he would immediately send the disciple back to the Ganges to clean them again. At times he used a cane to make his disciples perfect in their work. He was a strict disciplinarian even when he was in the Ramakrishna Ashrama as a Brahmacharin. How he managed the Ashrama and trained young Brahmacharins is known only to those who had the opportunity of being with him during those days. One of them, Swami Nirvikarananda, at present the head of Sri Saradashram, Ponnampet, Coorg, says in an article[1] as under :

"...Neelakantha Bhaktan stayed in the Ramakrishna Mandiram and performed the daily Puja. Some of us used to attend the evening Arati. On holidays Sri Bhaktan would read some books and explain the text to us. Every evening before Arati everyone would sit and meditate for about fifteen minutes. After Arati, singing of Kirtan was done. On holidays the Bhajan Kirtan programme was carried out for a long time. On Sundays even elderly people attended his Bhagavata class. Sometimes it was the 'Gospel of Sri Ramakrishna' that he took for Satsang. During vacation[2] Sri Bhaktan's life of austerity attracted some of us also. Then the programme used to be as follaws:

"Early morning bathing in the river. Then, up to twelve noon, Japam, meditation and study of the Gita in the Ashrama. This was followed by lunch which consisted only rice and buttermilk (occasionally, a piece of pickles may be there). At times when there were guests, the same quantity of rice had to be shared by all and we had to be satisfied with whatever we got. In the evening there was light diet of fruits or boiled green gram (Moong). For bed, those who had a mat, would make use of it, others would spread a towel on the floor and sleep. Everyone would get up at four in the morning and practise meditation. All these austerities were practised with pleasure. There was no time for idle gossiping in the Ashrama. Sri Bhaktan never allowed any frivolous talk. He was very particular about it.....".

In this respect he was another Swami Nirmalananda. **We see that in his life three personalities have played an important part- (1) Sri Ramakrishna whom he had chosen as his ideal for spiritual life, (2) Swami Brahmananda who initiated him and (3) Swami Nirmalananda under whose guidance he worked in the Ashrama for nearly twelve**

1. Translated (from Malayalam) from a Souvenir published by Sri Ramakrishna Ashrama, Tiruvalla in 1955, commemorating the Silver Jubilee of the Ashrama in its new premises at Tukalasseri.
2. Swami Nirvikarananda and others were students at that time.

years.

Those who are familiar with the 'Gospel of Sri Ramakrishna' and his **'Life' will see Sri Ramakrishna in Swamiji. Swamiji's innocent, child-like behaviour, love for children, the way he teaches the disciples and devotees, all remind us of Sri Ramakrishna. In Swamiji, as in Thakur[1], we see a happy blending of Bhakti and Jnana. Swamiji is a confirmed Vedantin but he often goes into ecstasy on hearing sweet devotional music.** When anybody suffers, it is his suffering. Even a plant has his sympathy. To give an example, not long ago a few mango-grafts had been planted in the Ashrama (Guha) garden. On the second day when he was coming down from his room, he noticed a plant near the staircase and rushed to it. Removing his upper garment he held it above the plant to protect it from the sun and called us. When we approached, he asked us to provide shade for the new plants by fixing leaves of trees above them. His facial expression showed his feeling for the plant! **No wonder, he always says "Feel, feel, feel for others."**

Likewise one sees Swami Brahmananda in him in various respects. Swamiji is referred to by the disciples and devotees as "Maharaj", a title by which Swami Brahmananda was familiarly known. Swamiji says to those who approach him "Meditate, meditate. Always think and think." He always asks "What do you want? What do you want?" Yet another common point between the two is Swamiji's love for Kanya Kumari. Even as Swami Brahmananda yearned to live there in hut, Swamiji too does not like to move from Kanya Kumari, whenever he goes there. Like Swami Brahmanandaji, Swamiji was very reluctant in the matter of giving initiation. But these days he is more liberal. Not only in the Guha but wherever he goes a number of persons get themselves initiated by him. But he does not give Sannyasa for the mere asking. He is very discriminating in regard to that. Thus we see in him Swami Nirmalananda, Sri Ramakrishna and Swami Brahmananda.

◆ ◆ ◆ ◆

Swamiji, at the age of eighty, is quite hale and hearty. Weather permitting, he bathes in the Ganges twice a day. When he goes to the Ganges, very often he washes his clothes himself although there are more than a dozen disciples living in the Ashrama who would love to do it for him. At times he walks so swiftly that a young man cannot keep pace with him. He says he feels like a child; he cannot believe that he is in his eightees. The secret of such health and agility, he says, is Brahmacharya. He is a Naishthika Brahmacharin. He laughs when young people come and complain that they are getting old; their children are suffering and the like. And his advice to young men (even if they are married) is to keep Brahmacharya (union for the sake of progeny is not considerd as break in Brahmacharya by our Sastras.) His advice to his disciples is "If you have Brahmacharya, you have everything. If not, you have nothing" and he would often quote :

**"अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्त निर्मलं।
धर्म्यं यशस्मायुष्यं लाकद्वयरसायनम्।।"[2]**

◆ ◆ ◆ ◆

Apart from the Bhagavatam, Tulsi Ramayana (Ramacharitamanasa) is a favourite book of Swamiji. His advice, an echo of Tulsi's words, is 'कपट तजि'."Be sincere and true. Then the progress will be rapid."

◆ ◆ ◆ ◆

Even at this age, Swamiji never wastes his time. He is always busy. After morning bath and

1. Sri Ramakrishna
2. We admire the Brahmacharya of the 'purest ray' which result in Dharma, fame and longevity, and is a panacea for all the ailments of this world and the other.

a cup of milk he sits down for meditation. After two or three hours he makes his disciples read the Gita, the Tulsi Ramayana and other texts, listening to them and explaining a Sloka or two now and then. Then food. Swamiji does not take food in a closed room. He sits in front of all, guests included, and takes food with them. There maybe foreigners, Indian householders, Sannyasins and the Ashramites in the batch. Whatever is served in his plate is served to all. If there is something extra for him he orders that particular item to be distributed to all. After food he rests for half-an-hour and then goes through the correspondence and writes letters. Then he engages himself in reading some books. In the evening, after bathing, he sits again for meditation. Sometimes he pays a surprise visit to the garden, or to the room of some inmates, or supervise some work. There is no fixed time to have his Darshan. Except when the door is closed in the morning hours and after the light is off at night, visitors can see him and talk to him at any time. He is freely accessible to everybody. He never impose restriction on anything or any body.

Swamiji is a person of few words. He does not play with words. His letters also reflect this. Two or three lines will be all that he writes in reply to long letters. But that would be more than enough for the recipient. So to say, they are like aphorisms. 'गागर में सागर' (an ocean in a pot) is the apt description of his writing. Mostly he writes letters himself.

◆ ◆ ◆ ◆

We know Swamiji started a Junior High School. With great difficulty a building was also constructed. When the school started running smoothly, Swamiji felt his duty was over. He established a school in this backward area and after popularising education in these hilly parts, he asked the Government to take it over. He could have run it himself but that was not his aim. When the people of the locality were aroused, the school was handed over to the Government in 1957.

◆ ◆ ◆ ◆

Swamiji does not go on lecture tours. Seldom does he speak in large gatherings. Usually he holds Satsang and discourses. Wherever he camps there are discourses and reading of sacred texts. As we have said elsewhere, he is averse to praise and publicity.

◆ ◆ ◆ ◆

His way of training the disciples these days is on the basis of 'freedom for all'. He does not make hard and fast rules to be observed. He does not impose works on anybody; but everybody works according to his taste and capacity. There is freedom in everything. If any disciple wants to go anywhere, he does not stop him. If he feels that it may not be beneficial, he may give a hint about it. But the disciple is free to act as he likes. Even if all the inmates want to go he will not stand in their way. And he does not depend on anybody. He has got the independent spirit of a youth.

◆ ◆ ◆ ◆

Swamiji's works are very few. He has written some Stotras and article and composed a few songs. Not being interested in getting them printed, he has given away the manuscript to some friends, and some have been eaten away by white ants. It is with great difficulty that his disciples and devotees get his permission to print any of his works.

◆ ◆ ◆ ◆

Unlike modern Ashramas Swamiji has not given a 'commercial touch' to the Ashrama. How does the Ashrama run then? It is a mystery. Often there are many guests, Sadhus as well as householders and all are served food. Swamiji says ever since he established himself in the cave, nobody has gone without food. And he does not ask for financial help from anybody. The only explanation that can be offered for this is "The Grace of God". The Ashrama runs in a unique manner.

●●●

I Meet My Master

- Swami Nischalananda

"It was Friday, 23rd April, 1948. Krishna and I arose about four o'clock that morning. The Ashram slowly began to rise from its slumber with the gong of the temple bell. Fear gripped us; there was no need to speak about it, we could fathom it in each other's eyes. Krishna looked at me and I started at the forest. It was dark; not a whisper passed our lips. We grabbed our things and stealthily crept out of our room behind the temple, and into the thick bushes. After walking a safe distance we heaved deep sighs of relief."

"Soon the sun began to peep out of the mountains, and its fiery orbit began to strike on us. We felt like two thieves trying to run away from our own shadows. There was a guilt from which we could not get away and at the pacing of each step it began to hurt. I was torn between two forces. Whilst one meant freedom and release, the other meant pain and bondage. Does not every aspirant-nay, every individual-find himself in such a predicament? One thing is certain, we cannot escape from ourselves; we have to live with one or the other. The choice lies in us- there can be no compulsion.

"Thus musing over my thoughts I had walked several miles. All along the way we had not lost sight of the Ganges, roaring its way between the mountains. It began to grow unbearably hot, and we became thirsty; the Ganges was inaccessible. We had walked about five hours and should have been near our destination. We felt a bit anxious, for there was no one in sight to direct us. Then we came upon a clearing where there was a shed and we asked a man for some water to drink. Refusing us, he pointed to a grassy path that led to the Ganges.

"Disgruntled, we made our way and climbed down a ridge, and then came upon a wide path that led all along the ridge to a clearing on the far end till we found ourselves standing before a cave. The entrence to the cave was closed. It was past ten and we had walked fifeeen miles. There was a sort of low platform just before the entrance. We were exhausted. Krishna and I threw ourselves on it and fell asleep.

"An hour passed when we heard the creaking of the door of the cave. We jumped to our feet. The door flung open and in its place stood a figure of average build, just over five feet, with silvery grey beard and long hair. He was past seventy and limped on one foot. His features were strikingly

strange and bewitching. We threw ourselves at his feet. Laughing, he led us into a little room on the side of the cave. His laugh was particularly meaningful, the like I had never witnessed before. There was fullness in it, compassion and understanding - an experience in itself. In that instant I knew, like a flash it came before me - I had met my Master. He gave us a drink of water and in the meanwhile I explained my purpose. He bade us go to the Ashram a few furlongs from the cave and have something to eat, and return to him in the afternoon.

"It was in the Ashram that I heard that Swami Purushottamanandaji-for that was his name - was disciple of Swami Brahmanandaji, who was a direct disciple of Sri Ramakrishna. He was a pioneer worker of the Mission in the South of India for several years, and later, with the permission of his Master, had journeyed to the Himalayas to spend his time in austerities. The cave was situated amidst ideal surroundings, with a wonderful view of the mountains and the Ganges before it. The forest around the cave was dense, with vines creeping down the sides of the cave. There were two other caves besides the central one called Vashishtha Guha which the Swamiji occupied. The cave has two chambers, the inner one the Swamiji used for meditation. Whoever entered the cave was struck with a peculiar vibration which had a calming effect on the mind."

●●●

From I Meet My Master, by Swami Nischalananda, a direct disciple and first President of Ramakrishna Mission South Africa

The Light

Though retired in a formal sense
I'm still on the run
Pursuing a chimera -
A phantom of desires.
My random knockings
Lead me to a no man's land
Till I found a Golden Figure
Beckoning me to the yonder shore
Bathed in superral light !

D-Day

Gasping and breathing heavily
As in a Dooms - Day
My spirits getting uplifted
Seeing sun shine on your birthday !
The battered soul awaiting
The Judgment Day
Finding solace on your lap
On the D-Day !

– Dr. M.C. Mehrotra

At the feet of my Guru

- Swami Nirvedananda

Swami Nirvedananda was one of the senior Sannyasin disciples of Swami Purushottamanandji Maharaj. During the lost phase of his malignant disease, Swami Nirvedananda was prompted to publish his already written reminiscences with Guru Maharaj as he was experiencing Guru kripa at every step ever since the disease affected the body. Thus, in the form of baok titled "At the Feet of My Guru' he attempted to sing the glory of Guru Maharaj. Excerpts from this book are given below which highlight the indiscernible greatness of our Guru Maharaj.

Reminicences

It was in the autumn of 1953 that I met His Holiness Sri Swami Purushottamanandaji Maharaj, who was to be my Guru a few years later, for the first time in my life. It was at mid-day during the last week of October that I reached Goolar-Dogi by bus from Rishikesh and, enquiring of a lone villager who chanced to come across, I found my way to Sri Vasishtha Guha. When I went down from the road and reached the Ashrama precincts, I was overwhelmed with joy and emotion because I felt I knew the place very well. The valley, the river Ganga flowing not far from the Cave, tall trees and bushes, all made me happy, for they all looked very familiar to me. And when I walked towards the main cave through the bushes and garden, the sight of the Cave thrilled me beyond description. For, as a young boy, when I used to listen to the story of Sages Vasishtha and Viswamitra from my father, I had imagined Vasishtha's Ashrama in the same manner as I now witnessed before me. The small elevated platform, gadi, near the door of the cave, the small thatched roof in front (the present tin-sheet roof was put up much later), were all exactly as I used to imagine as a boy; only, the door of the cave was the door of a thatched hut in my imagination. The whole atmosphere seemed very familiar. But that was not the end. One more surprise awaited me. I found a Brahmachari there and he showed me a thatched hut a few yards away where His Holiness was sitting. (There were no buildings in the vicinity; only two huts were there. Adjacent to the main cave there was a small room in which Swamiji lived. It is still there.) When I approached, I found Swamiji seated in an easy-chair outside the hut. A small table was in front of him with some books and papers on it. Holding the letter of introduction from Sri Swami Chinmayanandaji Maharaj in my hand, I approached him. What a surprise ! I did not feel that I was standing before a stranger. I felt I was his own - and felt as if he were my grand- father or some close relative. I felt so familiar with him. After salutations, I introduced myself and handed him the letter. He showed me a cane stool and I seated myself on it. He opened the letter and started laughing and laughing - his inimitable and natural child-like laughter! After making some kind enquiries about Swami Chinmayanandaji who was then conducting an Upanishad Jnana Yajna at New Delhi, started again laughing when he read my name. He was so happy to read it - my name was Vedagiri - and asked again and again, "Who gave you this name?" "A very good name", and so on. He enquired whether I had had my food and I replied in the negative without any reservation. I myself was surprised as to how I behaved so naturally instead of saying, "Please don't bother, I

will have it at Rishikesh," and the like. I felt in the heart of hearts that itself was an indication that I was like a child before its guardian.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

One day Swamiji received a letter from one of his Sannyasin-disciples. The disciple had written that he was staying in some Ashrama in Punjab. Brahmachari Sadanand gave the news that another Sannyasin-disciple of Swamiji was about to be made the Mahant (Head) of an Ashrama at Rishikesh. Swamiji laughed on hearing this and looking at me, said :

"One should live and work independently. By depending on others one does not realise the difficulties. Sannyasins should not stick to some established Ashramas. They should move out and experience life for themselves. Then alone they will know things as they are."

Though I was then in a workaday life, I took this as a guide-line for future and noted the advice in my diary.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

The following day, November 15, 1953, I approached Swamiji at about half-past nine and saluted him. He was sitting in the sun. I was to leave on that day. I humbly placed an insignificant amount near him and asked his permission to leave after the mid-day meal. He picked up the money and put it back in my shirt-pocket, saying with tender love and affection, "O, Why? It is not necessary. I will keep it here. You need it. After a few minutes' silence, he said:

"Be sincere in all actions. Develop intense love towards God."

(Pause) . . . "God can be seen." Smilingly : "Yes, I see Him just in front." (pointing to the front with raised hand. I looked at the direction, but . . .)

(Pause) . . . "Be in the world but not 'of the world.' Forget the 'I'-ness and 'My'-ness, and have firm faith in Him and leave everything to Him. Do not bother about anything. When time comes, things, Karmas, will leave of their own accord and relieve."

(Pause) . . . "The desire to know and live in Him should not be half-way. It should be like a बाढ़ (flood). It should come with such a force, and full, and wipe off old Samskaras."

These words were uttered not eloquently, but slowly and deliberately.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Swamiji was a confirmed Vedantin. But there was a happy combination of Bhakti also in him. He always advised : "Think, Think"; "Discriminate, Meditate," and so on. Another point on which he laid emphasis was "Love". His own love for others was like that of a mother's toward her children. When anybody suffered it was his suffering. Not only human beings, even plants had his sympathy. Once a few mango-grafts were planted in the Ashrama. On the second day when he was coming down from his room, he noticed a plant near the stair-case and reached towards it. Removing his upper garment he held it above the plant to protect it from the sun, and called us. When we approached, he asked us to provide shade for the new plants by fixing poles and placing leaves above them. His facial expression showed his feeling for the plant – the face had faded in sympathy with the plant!

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Once Maharaj decided to construct a compound wall as a protection from flood waters. Masons and labourers were engaged. Some of the Ashramites also joined hands. The work went on for a few days. Maharaj had, planned the wall to be of a certain height but before reaching that height, one day he ordered the work to be stopped. All our pleadings could not change his decision.

And what he said was an eye-opener to us : "Look, not that I wanted a compound wall to protect the buildings and all that. I wanted to help the poor villagers, so I started the work. Money should not be given gratis. It will make them idle, you see." And while making payments he would ask for the account of each worker and then give two rupees extra to one man, three to another, and so on. (Two or three rupees had great value in 1958-59.) To some he would give clothes also. This was one of the ways in which he expressed his 'feeling for others'.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Let me cite one more instance of Swamiji's compassion, this time for an absolute stranger: It was the summer of 1959. One day in the hot sun a well-built person of dark complexion came to Vasishtha Guha for Swamiji's darshan. He looked like a poor peasant or labourer, and he had an awkward look on his face. He was suffering from piles and was wandering desperately in the hills. Swamiji advised him to go to the hospital run by Sivanandashram in Rishikesh where he would be attended to. The man left then, but was back again after a day. The surgeon, after examining him, sent him away as the piles was not ready for surgical operation. He said that he was desperate because of acute pain etc. and did not want to go anywhere. He wanted to stay in the Ashrama (Vasishtha Guha) and render some seva (service). He believed that service to Mahatmas alone would cure him of his ailment. Swamiji advised him to return home, but he would not listen to any advice, and was adamant. He knelt down before Swamiji and implored him to be allowed to stay and do some seva. Swamiji, laughing, asked one of his disciples, the present writer, to fetch a stick lying near by, as if to beat him. The man immediately offered his own heavy lathi and bent down to receive the blow. Maharaj simply laughed and laughed. It looked as if he enjoyed the play. He ordered the disciple to bring one orange from his room. When it was brought he began peeling it himself. When the man extended his palms to receive the prasada, Maharaj, by gestures, asked him to open his mouth. He knelt down immediately and opened his mouth. Then Maharaj put a piece of the fruit into his mouth. When he had eaten it, another piece was put. Thus he put three or four more pieces of the fruit into his mouth. While doing so, Maharaj's face was beaming with love and compassion. Then the man saluted Maharaj by lying flat on the ground before him and went away as advised. This time there was no pleading from him for being allowed to stay in the Ashrama. On reaching the road he started clapping his hands and dancing with joy, uttering, "I am blessed; I am cured," and so on. What was it that the absolute stranger received from Maharaj? Nothing but compassion and unalloyed love! Yes, his love and compassion knew no bounds; they were all-embracing.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Maharaj could easily detect what was going on in the minds of others. It was difficult to hide anything from him. On January 1, 1959 he was starting for Delhi. Some of us were packing his bedding and other things. Some wrong notions crossed my mind about the preparation when Maharaj looked at me and said: "This is also worship. Do you understand ? This is also worship." I was put to shame and became pale. and meekly replied. "Yes, Maharaj." No one else knew the significance of these words.

Another instance : Once Maharaj asked me to send a money order to a lady who was in straitened circumstances. Perhaps somebody had written about her condition. She happened to be a member of Maharaj's poorvashrama family, so I felt something bad about it. I was still filling up the M.O. form when Maharaj said, as if by way of explanation, "Look, I consider her like other devotees. You know I send money to some devotees when they are in distress. This is also

like that, but a small amount."

How unobtrusively he erased the wrong notions from my mind! What impression these words made on my mind can better be imagined than described.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

R. Dubey, a devotee from Bihar, came one afternoon. Though he used to write to Swamiji occasionally, he had not intimated about his arrival. After placing his offering before Maharaj, he prostrated himself before him and sat down. None of us Gurubhais knew him personally. Maharaj did not make enquiries of him but asked some of us to give him the Ramacharita-manasa and asked him by gestures to read some passage at random. He opened the book and recited a few chaupais with his heart and soul in them. Only after that Maharaj enquired about his welfare, etc. Later, he told us that when he came to Vasishtha Guha for the first time, about fourteen years before, the same thing happened: Then also Maharai just asked him to open the book and read even before enquiring about him. He left the same day but had been impressed so much that he considered Maharaj as his Guru and started writing letters now and then. And now when he came after fourteen years without notice, Maharaj did the same thing and what was more, the portion he read was the same which he read during his earlier visit. It moved him very much. A staunch, devotee of Sri Rama, he used to read Ramayana with devotion and Bhava. He stayed two or three days and took Mantra-deeksha from Maharaj before leaving.

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Maharaj could understand the nature of a person from his physical features. At times he studied it through other methods also. One can't say for certain in what way he studied every disciple. About six months had elapsed since my joining the Ashrama. One night I was sitting in Maharaj's room, by his cot. He asked me to raise my hand and when I did so he passed his palm over my forearm three or four times. I guessed that he was examining my character thereby. After a few minutes' interval, I asked him with trepidation, what he was examining but he did not say anything. Three or four days later, during the Gita class, while commenting on the term arjavam occurring in the sixteenth chapter, he laid emphasis on sincerity and explained :

"Thought, word and deed should all be in consonance with one another. They should be in a straight line and not in a crooked one which is nothing but deceit. That is arjavam (straightforwardness)."

Then he gave a general advice "Be sincere always. Your body, mind, action, speech - everything should reflect sincerity. Even by touching the body one can feel it*. Mere lip-talk won't do. It should affect the whole body."

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

Just as Maharaj was beyond money and calculations, he was beyond Time also. Sometimes, when he asked for something, he would demand it immediately as a child would do. Once, while returning from Ganga after evening bath, he asked for some khichri (a preparation of rice and dal cooked together, adding salt and turmeric powder) to be prepared, saying that he was feeling hungry. However hastily one works, it takes some time to cook the stuff. But within a few minutes Maharaj was on his seat and asked: "Is it ready? Bring it." If he was told that it would take another ten minutes, he would say after a while that his hunger was gone and he did not want khichri. (All that he would eat would be just three or four spoonfuls of it.)

Likewise, sometimes he would ask for the mid-day meal much earlier than usual, saying that

* At this point he looked at me and said: "The other day I touched you and you were asking what it meant."

मन्दिर
श्री पुरुषोत्तमानन्द आश्रम

मन्दिर में श्री पुरुषोत्तमानन्द महाराज जी का विग्रह

जन्मोत्सव में मन्दिर में सामूहिक अर्चना

मन्दिर में प्रातःकालीन अर्चना

गंगातट से मन्दिर का दृश्य

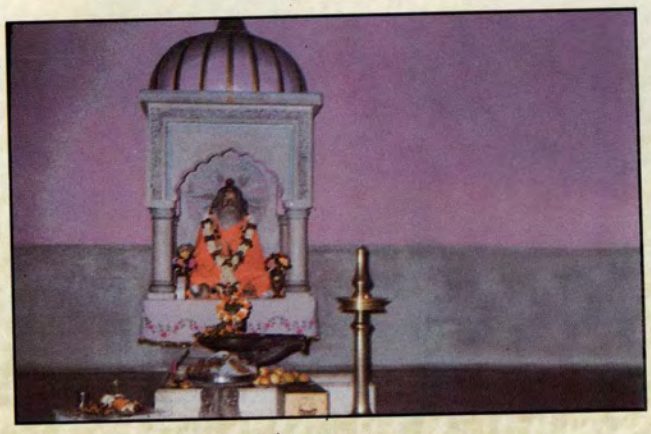

मन्दिर के अन्दर का दृश्य

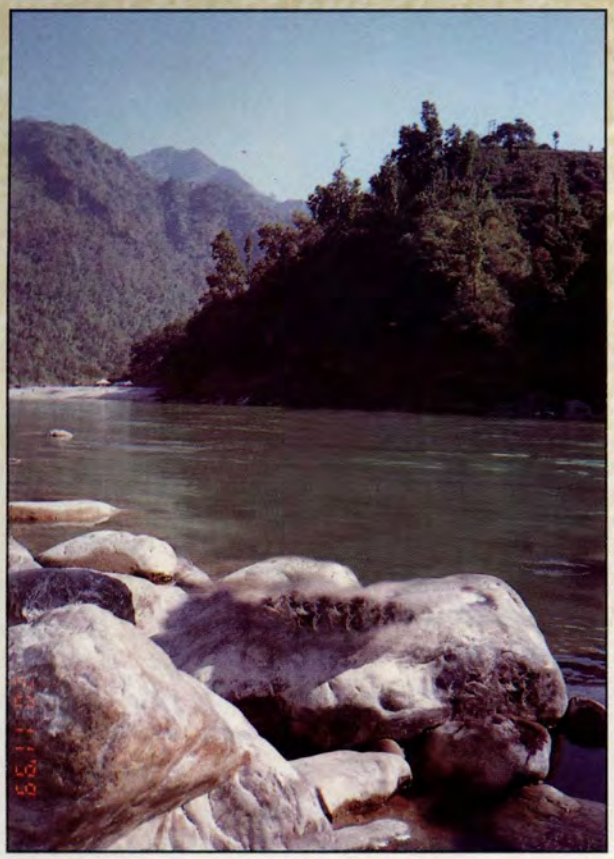

आश्रम से गंगाजी का एक दृश्य

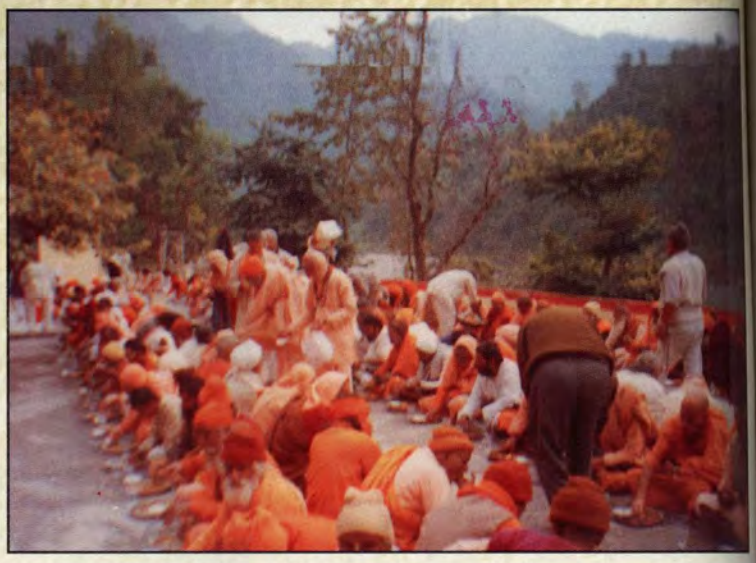

महाराज जी के जन्मोत्सव पर भण्डारे में एकत्र साधुगण

श्री गुरु महाराज जी का समाधिकक्ष

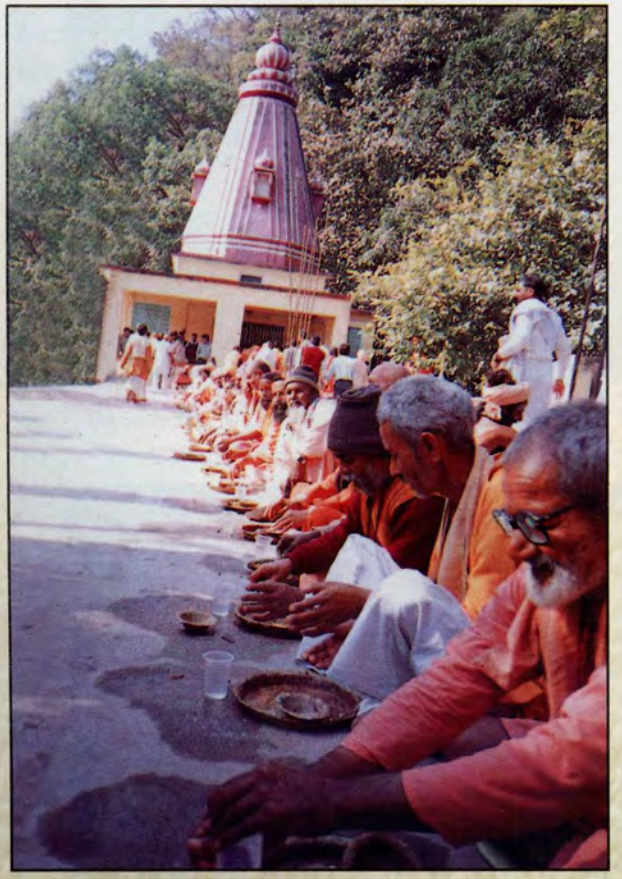

गुरु पूर्णिमा पर्व पर आयोजित भण्डारा

महाशिवरात्रि (महानिर्वाण दिवस) के अवसर पर भण्डारे में एकत्र विद्यार्थी

he was hungry. On such occasions we had to be very tactful. We would hurriedly move about here and there as if searching for something, sweep the floor and sprinkle some water over the place, place his asana after dusting it a few seconds and pretend to do something or the other, just to pass time and 'keep his hunger alive'. In between he would say, "Hey! bring it quickly". We would tell him that so-and-so was just bringing the food and so on. All the while we would be in tension, and only when he finished his meal would we be relieved of anxiety.•

We knew very well that he was not an ordinary person. Nobody could fool him. Our intention in playing such parts was to see that he did not withdraw his mind from what he wanted, for Paramahansas are just like children. Such instances convinced us that the Realised Ones are beyond the bounds of Time.

•••

Heart-felt offerings to GURU
by
Swami Nirvedananda

MY GURU

Who fed me with thoughts divine,
And bless'd me when I sought refuge,
And keeps me under his benign care,
— My Guru!

Who, by his glance of compassion,
Filled my heart with devotion,
And stirred up my dormant dispassion,
— My Guru!

And who, like a lodestone, attracted
The deluded me from wilderness,
And took me in his fold for ever,
— My Guru!

To abide in thee, the Self, for ever and aye,
Grant me wisdom, power an' courage;
And bless that I be Thy worthy child,
— Oh! My Revered Sadguru!

PURUSHOTTAMA GURU

(An acrostic)

Purity of thoughts
Unselfish deeds,
Remembrance of God
Under all circumstances;

Sincere devotion
Higher aspiration,
Open-hearted dealings-
The surest means to Peace;

Time is fleeting fast
And life is ebbing too,
Moments though they seem
Ages, alas are lost;

God, coming as Guru
Uplifts the dozing chela
Reminding him of his nature Divine
Ushers a spiritual life in him.

A Foreigner meets Maharaj

– *Swami Jnanananda Giri*

Given below is an interesting account of a friend on his first meeting with Maharajji. Swami Jnanananda Giri who hails from Switzerland, is more an Indian than a Swiss, having never left the shores of this country ever since he came more than forty-five years ago. Whenever he came to the North from his Guru's abode in West Bengal he used to spend a few days at Vasishtha Guha also as he not only liked the place but valued the company of Maharaj. Even now he recalls his first visit to Vasishtha Guha with great admiration for Maharaj whenever devotees, Indians and foreigners, request him to norrate about the Mahapurushas he has met in the country. What follows is the Swamiji's narrative in his own words.

"It was during the rainy season in the year 1955 that I set out from Rishikesh walking along the motor-road by the Ganga in the direction of Vasishtha Guha. My intention was to have the darshana of the great Swami Purushottamanandji Maharaj who lived there and of whom I had heard while staying at Rishikesh.

Late in the afternoon I came near to my destination. I descended from the motor road on a narrow footpath that led through the dense lush forest towards the river. Soon I reached the ashram precincts.

All day long I had been thinking of the divine presence that permeates these sacred forests and mountains. A deep sense of timeless ecstasy filled the very heart of my being, which on approaching that forest hermitage, turned into a mysterious expectation.

I found Swamiji Maharaj sitting on an elevated mud platform in the open, just in front of his small Kutir next to the entrance of the cave. A few Brahmacharins and householder devotees were also by Swamiji's side.

The elderly saint, with flowing long white hair and beard, did shine like a Rishi of ancient times. A heavenly smile lit up his bright face! As I moved closer, with my folded hands in salutation, the saint's smile turned into cheerful laughter. Laughing heartily like a child, he made me sit down with a gentle gesture of his hand. Not asking anything he looked for something amongst letters, papers and books that did lie by his side. He picked up one picture-postcard, perhaps received by that day's mail, and still laughing, he waved that card before me and then handed it over to me, now asking : 'Do you know this country and place?' I looked at the postcard and replied that I know it, it is Zurich in Switzerland! To my surprise that card depicted just that particular part of the town where actually I was born! I was indeed wondering how Swamiji knew my nationality and how he happened to show me this picture postcard. He then made a few enquiries about me, my Guru, etc.

I felt wondrously uplifted in the saint's august presence. I was allowed to stay at the hermitage. For a number of years thereafter I kept on visiting Vasishtha Guha to be with dear Swami Purushottamanandji Maharaj whenever I came to that region of the Himalayas."

●●●

The Light of Vashishtha Guha*

Swami Krishnananda
Divine Life Society

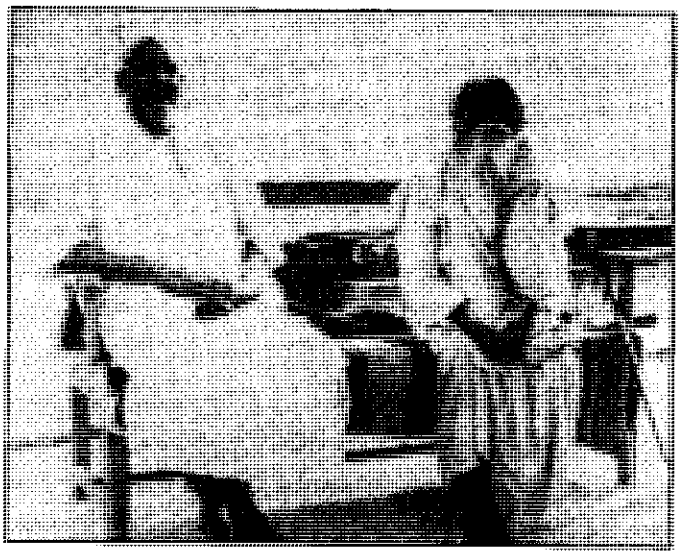

Saints and sages are the light of the world. The presence of personalities who reveal in their lives the Power of God is a blessing by itself. Worshipful Sri Swami Purushottamanandaji Maharaj sanctified the already sacred holy shrine which has the reputation of having been the Ashram of Rishi Vasishtha in ancient times. I have heard personally from H. H. Shri Swami Sivanandaji Maharaj, who was a contemporary of the Swamiji of Vasishtha Guha, that this exalted saint was a paragon of traditional austerity and spiritual radiance.

It is common knowledge among the people of the locality that Swamiji exercised great spiritual powers. Swamiji used to request bus drivers to escort poor school children who were usually stranded on the road. I have heard it said that one of the drivers did not pay attention to the request of the Swamiji and drove off. But the bus gat stuck up and would not go ahead due to a mysterious dislocation of the mechanism or some ununderstandable mystery. People nearby rebuked the driver for his neglect of the request from the holy man. The children then were allowed to get in and the bus moved on unhampered.

The miracle man of Vasishtha Guha remains even today as a sacred memory in the ardent minds of devotees. Apart from the spiritual guidance and divine help which the Swamiji extended to seekers of Truth, the Social services rendered by him to the poor and the needy by way of education, monetary aid and personal assistance in many ways are well-known. God is in heaven and also in the world. So are men of God.

It is my fervent hope that the Vasishtha Guha Ashram will continue to be a temple of pilgrimage for everyone who seeks succour, whether spiritual or temporal. May the Grace of the Almighty be upon all.

●●●

* From earlier souvenir published in 1979

My Sacred Reminiscences

Swami Sankarananda

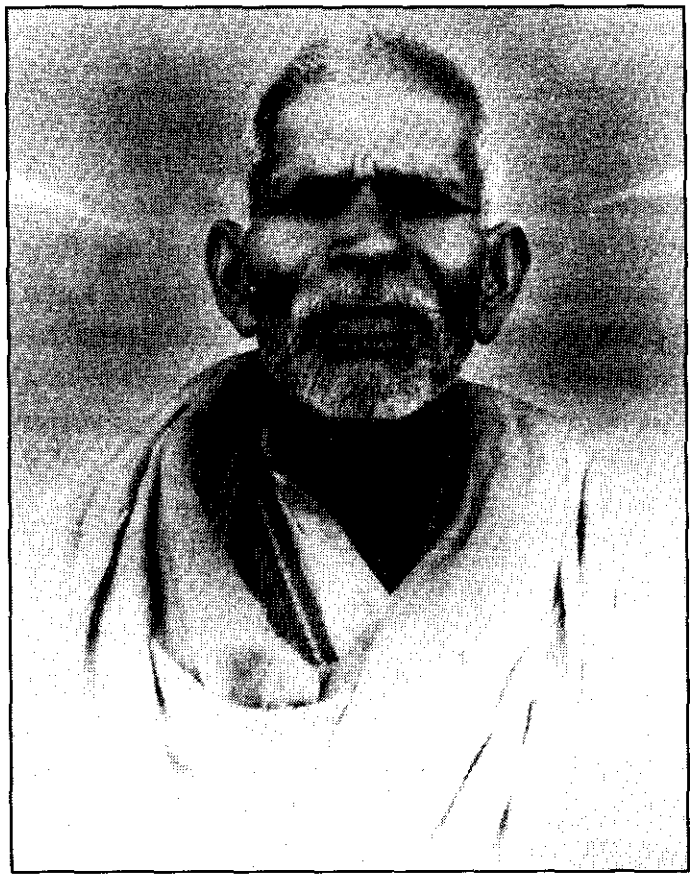

People are always happy to tell how they were drawn to the lotus feet of their Sadguru and their reminiscences about him. It is a source of rare spiritual joy and inspiration. The mind is withdrawn with ease from this mundane world and it soars to the spiritual realms. It gives a boost to their sadhana. As such I feel some ineffable joy in recalling my reminiscences of Sri Guru Maharaj. Not only this, I also find the unseen Grace of God that brings a sadhaka to the lotus feet of his Sadguru.

Even in my teens I had the good fortune of reading the life and teachings of our great spiritual masters-Sages and Saints and some religious literature-Upanishads etc. from my father's library. In 1957 I got a copy of the autobiography of our Guru Maharajji, the sage of Vasishta Guha, आत्मकथा अथवा ईश्वरकारुण्यम् in Malayalam, from a friend-a member of the Divine Life Society and who occasionally used to visit Rishikesh the Head-quarters of Sivananda Ashram. Instinctively, I was attracted to him and inspired by his life of Tapasya, renunciation, Nishta, etc.

In 1958, I visited Kanyakumari on a pilgrimage along with some of my friends. Sri Parameswaran Pillai, (G.O.C, of Kerala Force) was living there in those days after his retirement, devoting his time to spiritual sadhana. In the course of conversation, he mentioned about his trips to the holy places of the Himalayas, his visit to Vasishta Guha, meeting Maharaj and the publication of the autobiography of Maharaj, etc. He also told us that Sri Maharaj was expected to visit Kerala and Cape (Kanyakumari) shortly. One day I saw, in a daily, the happy news of Maharajji's programme at Trivandrum.

One afternoon I reached the house of Dhanwanthari Parameswaran Pillai, Trivandrum, where Maharajji was accommodated. That day he was invited for Bhiksha by a devotee, Sri Chandrasekharan Pillai, I.G. of Police, to his house. On his return, Maharajji saw a few of us waiting for his darshan. Eventhough it was time for his rest, he did not care for that and was happy to be with us. I offered flowers at his feet. There was no formality or fixed time for his darshan. Anybody, known or unknown, young or old, high

or low could freely approach him at any time. His room was always open and, so too was his heart to devotees. He was happy and smiling. His mere presence was a source of inspiration and supreme peace. His personality was much more than what one might imagine by reading the autobiography. He rarely used to make any formal enquiries viz. about name, occupation, place, etc. So directly he began to ask, as it was usual with him, "what do you want?" It was an eye-opener. It used to awaken the spirit of self-analysis and enquiry. This enquiry, 'what do you want?' is also a Mantra to be remembered often in life when the mind gets distracted by all sorts of mundane desires. This helps to develop Viveka and Vairagya and to maintain the balance of mind. Human life becomes blessed if only we know what is it that is really wanted or desired. 'Desire something by which all desires vanish'. Such was "Maharajji's method of teaching.

Maharajji asked me to meet him again at R. K. Ashram, Nettayam, a few miles away from Trivandrum, after a day or two. Accordingly, I reached there one morning with some of my friends. Shri Maharajji was seen sitting on the western verandah, commanding a distant and beautiful scenery. A senior Swamy of the R. K. Mission was eager to know about the life at Vasishta Guha-how many members, how it is run and the means of income, etc.. Maharajji said, "Eight to ten permanent inmates apart from the floating number of pilgrims, ten to fifteen daily."

Question : "Is there any permanent fund to run the Ashrama?"

Ans. No."

Question : "How do you manage?"

Slowly came the answer in the most natural way with a smile. He began to recite the famous sloka of the Geeta "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।" (अ० 9 श्लो० 22) and said, "This is my repeated experience". Before he could finish the Sloka his voice got choked out of emotion. Horripulation was seen all over his body. Perfect silence superveined for a few minutes. We remembered the words of Narada regarding a real Bhakta:

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि

– ना.सू. 69

We saw in Maharajji's life some of the important teachings of our Shastras, pertaining to spiritual life, verified, viz., unreserved surrender, sincerity, simplicity, nishta, renunciation, brahmacharya, Solitude and so on. The silence was broken by the Swami's intrusion :

Question : Is not the teaching of the Geeta better realised while engaged in the service of the world than in solitude?

Ans. **"First one should realise God by intense sadhana. Solitude is best for this purpose. This is my view. Don't be anxious about service of the world. 'Lokasangrah' will take place without any effort according to one's past karma and samskaras." Maharajji continued," you are living in an ashrama and engaged in social activities. How many times do you remember God, for how much time it lasts, with how much feeling or intensity do you remember Him ? Does it come from the heart ? Find out. But when you go to a solitary place for sadhana, where you don't have any sense of security and find your bare necessities of life fulfilled by the unseen power of the Lord, then see the feeling of your heart, how deeply you think of God, of His mercy, etc. You will develop complete dependence on God, He will take care of you."**

Then he narrated one of his own experiences at Vasishta Guha-how he was supplied with some match boxes when, after his failure to secure fire, he had decided not to go out for fire again. Maharajji didn't encourage further discussion and asked us to go to the shrine and meditate. And he himself took the Bhagavatam.

My contact with Maharajji brought a great change in my life. The feeling of dissatisfaction-some sort of restlessness and sense of lacking-vanished, and I began to feel a sort of peace and clarity of thought. **I found in Maharajji what the Acharya said in Vivekachoodamani** :-

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं संसारदावानलतापतप्तम्।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्टया दद्यादभीति सहसा महात्मा।।४३।।

The mere presence or remembrance of Maharajji is enough to arrest the outgoing tendency of the mind and make it turn towards its source-Atman. Once somebody repeatedly prayed for his blessings. In a serious mood he said, "It is my duty to protect sincere sadhakas going astray from the right path and bless them".

Maharajji's life was most simple and natural. He led an austere life of renunciation, contemplation, solitude, brahmacharya, etc., and he was called the 'sage of Vasishta Guha' by the people. He emphasised sincerity and straight-forwardness in all matters. In his teachings, actions were neither encouraged nor denounced, the implication being "undertake only the minimum work required for a simple living". People were received by him irrespective of their caste, creed, religion, age, sex, learning, nationality and so on. All shared his love and affection. All types of sadhakas were led, encouraged and enlightened in their respective spiritual path– jnana, karma, yoga or bhakti. Eventhough he was simple and was accessible at any time, people always felt that they were in the presence of a great personality and they paid due respect to him. None could think of tempting him with worldly things or commanding or overpowering him. By dint of spiritual practice, he had attained the rare and noble state of desirelessness. **In his presence people used to forget all about their possessions, status, learning, their ignorance, their superiority and inferiority complexes and inconveniences, and felt as if they had come to their "real home-Atma".**

May Maharajji's blessings be upon us all.

Aum : Peace : Peace : Peace.

●●●

From earlier published souvenir 1987

Truth is the mother of all virtues. If truth is adhered to, we will obtain all the virtues. Let there be concord among thought, word and deed. Speak as the mind decides and act as per your words. All well-being will attend on you. OM.

– Sri Swami Purushottamananda Ji Maharaj

Gurudev - A source of never ceasing wonders

– Swami Shantananda

When a person surrenders himself, even partially, to his Guru, the latter takes over and moulds him. In this process the person finds that many a time he is saved from impending calamities by the protecting hands of his Guru and he is able to witness many other miracles. No doubt miracles are 'nothing' from the higher spiritual point of view and no Guru will excercise his supernatural powers deliberately in order to demonstrate his powers or as a result of his compassion but they do serve the purpose of enforcing our faith in our Guru and the God. I have been the witness of several such incidents relating to our Gurudev of Vasishta Guha and have also heard of many events firsthand from those persons who were connected with such events. Reading and hearing such leelas of Gurudev will bestow auspiciousness ('श्रवण मंगलम्') and will purify our hearts ('कल्मषापहं'). I am citing below a few such instances :-

1. Calculated Generosity

In May/June 1992 I went to Calcutta (Kolkota) and on the first day I was taking my Bhiksha (lunch) in Bharat Sevashram Sangh in their dining hall where several hundreds of people were already eating meals. By the time, I finished my food and came out, I found that all others had gone away and no chappals were left outside. Obviously somebody had taken away my chappals too. It was noon and the sun was so hot that one could not walk on bare foot on the road. With difficulty I walked to the nearest Bazaar and purchased a pair of Hawai Chappals for Rs. 32/-. I had very little money left and mentally I was vexed and blaming the Lord as to how he could be so harsh as to deprive me of my chappals and put me to an unnecessary expenditure of Rs. 32/- which I could ill afford. In the evening, while I was walking towards the house of a friend of mine in Bhawanipur, I saw a temple of Goddess Durga on the way. On an impulse, I went inside the temple. I saw a young man coming out of the temple who hesitated and stopped on seeing me.

When I returned after the darshan of Mother Durga, this young man was waiting outside. He came near, pushed some money in my shirt pocket and quickly walked away without a single word. When I took out the money, I found to my astonishment that it was Rs. 32/- exectly the cost of my chappals. Who else but my compassionate Guru Dev (who is verily the Goddess Durga) could have inspired the young man to reimburse the exact amount (not a pie more or less).

2. A blow to my ego

Earlier to my Sannyas, from my childhood I was not accustomed to drink either tea or coffee. In 1992, soon after Sannyas, while staying in some shelter at Haridwar, one morning I was suddenly seized with an intense desire to have a cup of tea. I also did not want to purchase and drink tea because of my sparse resources. I walked over to Har-Ki-Paudi where a number of pilgrims were coming for a holy bath and was standing near a tea shop hoping fervently that some large hearted devotee would volunteer to buy a cup of tea for me. To my chagrin and disappointment nobody noticed me nor offered a cup of tea. Suddenly I found that a number of beggars and Sadhus formed a queue before the tea shop and all of them were served with hot halwa in a leafplate and tea in a kulhad (earthen cup). My mouth began to water but my ego that I am a Mahatma distinct from this riff-raff did not allow me to join them without an invitation from the tea shop owner. Nobody invited me and finally the crowd dispersed. In all nearly an hour and a half had elapsed and all the while there was no other thought in my mind except about tea. The longing for tea disappeared completely from my mind as suddenly as it came. My mind became quiet. I was struck with remorse that I had wasted my time for more than an hour in quest of a cup of tea forgetting my Guru and God. The ego had been strong in me and I was proud that even in that old age I was able to renounce my home and hearth because of my strong Vairagya. My Gurudev gave a strong blow to this ego by teaching a lesson to me that it was not possible to either renounce or be established in Vairagya (dispassion) without Guru's Grace and I owe it all to my Gurudev. Never again I forgot this lesson and never again such desires have assaulted me. Glory be to my Gurudev.

3. The dilemma of a Doctor

Doctor S. of Lucknow was a very close and intimate disciple of our Gurudev who had given him a Mantra of a particular deity early in 1950 or earlier. Sometime in Nov./Dec. 1995 or so, he came to me one day and in secret confided to me that all those years he was unable to do proper Japa as he had always been attracted by and habituated to the Japa of Ram's name (Ramnam Japa) from childhood while the Guru had given the Mantra of a different God. Whenever he started Guru Mantra he used to feel like doing Ramnam and whenever he started Ramnam he felt like changing to Gurumantra. During the period when Guru Maharaj was alive and in body, he never dared to get it clarified from the former. Now he wanted my advice as to how to solve the dilemma and to proceed on the spiritual path. I was surprised at his dilemma, prayed to my Gurudev mentally and told him :- "Doctor Saheb, you are my Gurubhai and so I can not give my obeiter dictum. You better pray sincerely to Gurudev for a solution, who will certainly enlighten you personally. The second day after this talk, Doctor S. came running to me in the morning and told me "Swamiji, Guru Dev came to me in a vision and solved my problem. Thank you very much." He was in tears and I never asked him what was the solution he got.

4. Diksha in a Dream

This was sometime in 1980 or so. One Mrs. B. of Delhi whose brother was an earnest and devout disciple of my Guru Dev had come to Guha during Gurudev's birthday. I was not then a monk and had come to Guha for doing Srimad Bhagawat Saptah. One day Mrs. B. approached me with a request "Pandit ji, the Swamiji incharge refuses to give me a Mantra. So please, give me Mantra Diksha yourself". Politely I told her "It is not fair on my part to give a Mantra to you while the Swamiji incharge of the Ashram has refused. Better come again next year and he may relent and give you a Mantra". Next year again she came to me with a similar request and almost began to weep saying "If you peaple do not give Mantra, how can we keep our link with the Guha? You must give me". I then told her "Do nat become despondent. You pray to Gurudev intensely and he will himself personally give you. If you have an intense langing, it shall get fulfilled". I met Mrs. B. again several years later after I became a Monk. She confided to me "Swamiji, you were right last time when you directed me to pray to Guru Dev. Within a week or two of my returning to Delhi, Guru Dev came to me one night and gave me a Mantra in my dream. On waking up I remembered the Mantra very clearly and am now daily doing the Japa. My thanks are due to you." In May 2004, while I was camping at Delhi, this lady came to see me and was gratefully remembering that memorable event.

Guru Dev, Thy name is 'Love'.

5. Pilgrimage on one Rupee

Gurudev once instructed one Sannyasi disciple R to go on a pilgrimage and gave him one rupee. He also laid down certain conditions :-

1. During the entire pilgrimage, Swami R was to use only Hindi language for talking (This was presumably because if a Sannyasi talks in English with people he may be treated with greater regard).

2. He was not to demand money or food from others but may accept them when offered, to the minimum extent needed.

3. When replying to other people's questions, the particle 'NO' or any other equivalent of this negative word should not be used.

While Swamiji was going on foot on a pilgrimage in the Himalayan Regian, it happened that for nearly two or three days he did not get any food to eat and was starving. Sometimes one or two persons asked him "Swamiji, have you taken food?" As he was forbidden to say "No" Swami R remained quiet. Enroute he saw a Dharamsala where some pilgrims were resting on the varandah in the morning sun of the winter seasan. R also went and lay down among them as he was tired and hungry. Suddenly, by about midday, somebody woke him up. He saw a priest-like man with a pleasant face standing before him, wha asked him "Swamiji, will you like to take some food?" R was very happy and answered "Yes, yes, yes." The priest took him inside where there were two rooms and made R to sit in the outer room. He went inside the inner room, presumably a kitchen, braught on a plate full of hot chapaties, Rice, Dal and vegetable and placed it before R who ate to his heart's content. He directed R to wash his hands on the tap outside. While washing his hands Swamiji observed that the polluted plate (in which he had eaten the faod) was being taken inside the kitchen by the priest. This was against the code of conduct prescribed for an Ashram kitchen where the food cooked is first offered to God. R walked back into the kitchen angrily but

found to his chagrin and amazement that the kitchen was bare and neither any oven, vessels, plate nor the priest was seen in that room. Who knows - it might have been his own Guru Maharaj who had served him food out of sheer compassion ! Oh Guru Dev, is there a limit to your Love and Compassion?

6. Lo ! you shall have a son

Mr. Dimri was a lecturer in the Government Inter College at Goolar. In early 1980s one evening he came to me at Vasishta Guha along with his wife and narrated his problem. In those days, I was not a monk and regularly used to come to Guha for Sadhana for a few days and also for performing Srimad Bhagavata Saptaham during the birthday time of Guru Maharaj. Mr. Dimri told me - "As myself and my wife had the problem of negative Rh factor we were treated by a specialist doctor at a cost of about Rs. 20,000 or more. Notwithstanding this, the children born subsequently were either still born (dead in the womb) or aborted in womb. Another Doctor had declared that she could not conceive in future. Kindly give us same 'mantra' which would enable her to be get at least one son." I told him that I knew of no mantra to enable one to prevent abortion but that they should pray to Guru Maharaj. Mr. D. said that he had prayed in plenty to Guru Maharaj and the Divine Mother without any result. He requested again to give him some special Mantra. As he was very persistent, just in order to stall him I said - "All right, you come tomorrow evening again. We shall see." This conversation took place near the gaddi of Guru Dev outside the entrance to the Guha. I casually walked into the room of Swami Chaitanyanandji incharge of the Ashram. There I saw lying with him a special edition (Viseshank) of Kalyan titled "Devata Viseshank". With his permission I took the book to my room for reading. When I opened the book, I saw in that page a special Mantra of Sachi Devi known as Shashti Devi or Chhati Devi for preventing abortion, still born children and to ensure the safety of the child from the womb till it becomes 4 or 5 years of age. I was simply astonished and immediately wrote it down in a sheet of paper. I took it and placed it in the Gaddi of Guru Dev just in front of his picture. Next day evening when the couple came again, I asked them to prostrate to Guru Dev and to take the paper containing the Mantra. I also explained to them the procedure for chanting the mantra. During the subsequent birthday of Guru Dev next year, one morning when I was coming out of my room in Vasishtha Guha I saw a couple sitting outside my room along with a small child in their hands, who greeted me. I failed to recognise them. The gentleman touched my feet and said "I am Mr. Dimri, lecturer. I have just got a nice son. I am so grateful for your blessings which have endowed us with this son." I corrected him . "No, not my blessings at all. It is all my Gurudev's blessings. I am nobody. Go and do namaskars to my Gurudev's picture in the Gaddi and take his blessings for your child". There is no end to the miracles of my Guru Dev.

7. Will Guru Dev ever let me go hungry?

It was in 1992, the year of Kumbh Mela at Haridwar. One day, myself (as a monk) and a brahmachari friend of mine (Mr. Subramanian) decided to go and beg bhiksha (food) from Ashrams near Bharat Mata Mandir side or Saptarshi Ashram which were quite far off from Kankhal area (Haridwar) where I was staying. In the first Ashram (Gita Mandir) the gatekeeper did not allow us to enter into the Ashram gate. In the

second Ashram, we were standing in a queue with hundreds of Mahatmas (monks) for nearly an hour from 10 a.m. When an ashram executive came with the food for distribution, he sternly ordered that only those monks possessing the identity cards should come forward for taking the food while the rest of the people would be served later only if and to the extent any balance food was left. On enquiry, I understood that monks of specific Ashrams had formed several associations (Unions) and were issued with laminated identity cards and they had unwritten contracts with other Ashrams to be provided with Bhiksha daily to these monks of unions with identity cards. Vive la union of Sannyasis !

At 11-15 a.m. we were informed that their stock of food had been exhausted. We dispersed empty handed (and with empty stomachs) and visited two other Ashrams where the same leela was repeated identically. It was nearing one O'clock and we decided to return to our Kutiya after drinking water from the Ganga Mata (river Ganges) who luckily never insists on identity cards. After 15 minutes of walk, I found a Panditji (priest) coming out of an ashram on the other side of the road who shouted and beckoned us to come to him. He asked me in a sweet voice whether we had our Bhiksha (food). I recounted to him my tale of woe and the bitter experience we had. He said "I am just going into the temple to offer food (BHOG) to the Lord. Please go inside and wait. In another 20 minutes you can have food in this Ashram". The small Ashram had a sign board "Kichdiwala Baba Ashram". We had a nice lunch in the Ashram alongwith some 40 or 50 other people on metallic plates.

Oh my Guru Dev, in how many ways have you given me instructions in remaining with deep faith in the love and campassion of God - qualities necessary for a monk. My prostrations at your feet millions of times.

8. Snippets from Gurudev's life

Once my Gurudev's personal attendant (a brahmachari) complained to him that certain Brahmacharis in the Ashram were eating away now and then the cashew nuts, almonds etc. offered by the devotees and kept for the exclusive use of Gurudev and they refused to heed the protesting pleadings of the attendant. While the complaint was being made, all the Brahmacharis were sitting before Gurudev. Guru Dev coolly replied - "Most of these costly offerings are full of the subtle desires and the past karmas (prarabdhas) of the people who offered them. If somebody wants to eat and take unto himself those Karmas of others, let them by all means - why should you object? From that day nobody dared to touch those dry fruits.

Maharaj used to talk very little and be very brief in pithy sentences with deep undertones. Once a devotee asked him to explain about Gyana Yoga (the path of knowledge) and Bhakti Yoga (the path of devotion). Gurudev replied - The one who loves God with devotion (Bhakta) will come to know (Gyani) all about Him. The one who comes to know all about God (Gyani) will come to love Him.

●●●

A Brief Life Sketch of Swami Purushottamananda Ji Maharaj "The sage of Vashishtha Guha"

– Swami Satprabhananda

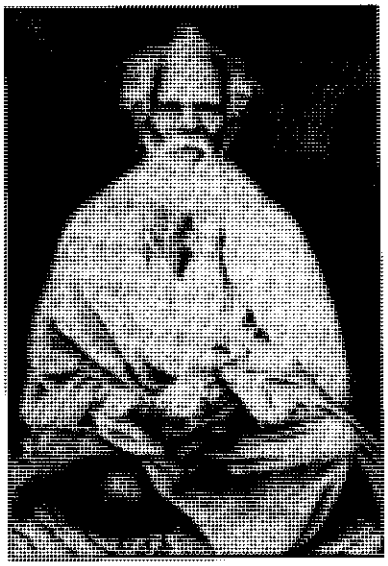

Satchidananda Brahman which is ever existent in its True Nature, appears through the screen of Maya as infinite beings (Jivas) like infinite waves in the Ocean. Among these infinite Jivas, certain rare Jivas also appear in this world, born with special Divine qualities. They by their own self-effort and absolute self-surender to God crush this screen of Maya and merge in their original nature of Satchidanada Brahman.

Swami Purushottamanandaji "The sage of Vashishtha Guha", as he was called was also one of such rare souls who crushed the screen of Maya and realised his own nature. He was born in Tiruvalla under the, then Travancore state which is now Kerala, on 23rd of November 1879 in a Nair family. His mother Parvati Amma and father Narayan Nair were very devoted to Lord Shiva. When the child took birth, they named him Neelakanthan in rememberance of Lord Shiva. At an early age of four Neelakanthan's educational carreer started, and he proved himself as very intelligent right from that time. At the age of fourteen when he was studying in Kottayam High School he first heard of Sri Ramakrishna Paramahansa of Dakshineshwar from the lips of his headmaster. He became a subscriber to "Prabuddha Bharata", a monthly english magazine of the Ramakrishna Order, and started to imbibe the ideas and ideals of Sri Ramakrishna and Swami Vivekananda.

When he was still in the High School the Divine grace fell upon him in the form of rheumatism, as Blessings in disguise. His parents tried their best to cure him, with the help of many expert Ayurvedic doctors but in vain. During the period of his illness, lying in bed he developed immense attraction for the universal Lord by reading Bhagavatam. He was convinced of the Lords' innumerable ways of helping his devotees. He has already heard of the lord of Guruvayyur who in a mystic way cured from rheumatism of Narayana Bhattathiri. The another of "Narayaneeyam." Without anybodys notice, one night Neelakanthan slowly slipped to Guruvayyur, limping dragging his paralised right leg. Due to his strong faith in the lord his condition became better after some period's stay at Guruvayyur, and he walked back to Tiruvalla to surprise his parents and relatives.

From now ownards he became more devoted to Bhagavatam. He made Prahlad as his ideal

who was a perfect blend of Bhakti and Jnana. Knowing that Sri Ramakrishna is no more in physical body, he was earnestly hankening to meet his direct desciples. At the time there was a small committee called "The Ramakrishna Association" in Tiruvalla started by local devotees to which Neelakanthan closely associated. Swami Nirmalanandji (Tulasi Maharaj), The president of Bangalore Ramakrishna Ashram and a direct disciple of Sri Ramakrishna visited Tiruvalla in 1911. His visit was a great boon to Neelkanthan to come closer to Sri Ramakrishna and his disciples. Slowly he became one of the main devotees of Nirmalanandaji. Seeing his true devotion to God and sincere efforts to realise him, the Swami named him as Neelakanthan Bhaktan, and started to inspire him with the ideals of "Renunciation and service", "Atmano Makshartham, Jagaddhitayacha". Finally Nirmalanandaji on 9th May, 1913 made him the president of "The Ramakrishna Association" at Tiruvalla.

In 1916 Swami Brahmanandaji, the first president of the Ramakrishna Math and mission, and a spiritual son of Sri Ramakrishna Paramahansa was on a piligrimage to Kanyakumari from Bangalore. At the request of Swami Nirmalananda he agreed to visit and stay few days at Haripad Ashrama on his way. Here Neelakanthan first met his spiritual Guru and had the privilege of serving him. At Haripad Nirmalananda told Neelakanthan – "Bhaktan, Your god has arrived. You serve him and get yourself initiated." Thus he got initiation (Mantra Deeksha) from Swami Brahamanandaji at Hirapad in 1916. He was with his Guru through out his pilgrimage to Kanyakumari and other religious places upto Quilon. He wanted to accompany him to Belur Math also, but due to his responsibilities of Tiruvalla Ashrama has had to depart from his Guru at Quilon. He was very much depressed to leave Brahamanandaji at Quilon and expressed, "After leaving Maharaj I was without spirit for many days but gradually recovered."

The prophetic prediction of Nirmalanandaji – "Bhaktan will go into a cave and go on meditating and meditating", and his Guru's departing message, "Meditate, meditate, no time to loose", were the foundation of Neelakanthan's future spiritual unfoldments. In 1922 during Durga Puja Neelakanthan came to Belur Math and stayed for about one and half years. He was initiated into Sanyasa by Swami Shivanandaji, the then president of the Ramakrishna order on full Moon day of October 1923 and became Swami Purushottamananda. Taking permission from Swami Shivanandaji, in 1924 he started for a piligrimage to Northern India and Himalayas visiting Banaras, Allahabad, Ayodhya, Hardwar and Rishikesh he reached Uttarkashi in 1925. After staying for some months on spirtual practices he proceeded towards Gangotri via Dharali, to Kedarnath via Budha Kedar, to Badrinath via Dokhimath. He was in immense bliss when he reached Badrinath and felt most grateful to the universal lord for his infinite grace to bring a rheumatic paralytic man like him to the Lords hightest Dhama. He clearly felt that the Lord can do make impossible possible by his mere grace. He chanted many times Geeta's Sloka.

"मूँक करोति वाचालम् पँगु लङ्यते गिरिम्"

He returned to Uttarakashi via Kirtinagar, Deoprayag and staying some months there he came down to Brindavan via Tehri, Mussoorie, Hardwar and Agra. After staying for some months at Brindavan, he was again being attracted to Himalayas. He reached at Swaragashram in Rishikesh. It was here he first heard of Vashishtha Guha from a forest officer during his morning

walks. After staying for some period at Swargashram he reached Ramguha at Brahmapuri and finally reached Vashishtha Guha on 19th June, 1929. During his pilgrimage and spiritual practices he was to undergo lot of severe tests in the hands of the Lord, but always depending on his Mercy. After staying some time here, he had to return back to Tiruvalla to look after the Ramakrishna Association affairs. But, this time he was full of renunciation and completely averse to work and public activities. As per his desire the Divine will also acted accordingly to change the events and circumstances at Tiruvalla which forced him to leave that place permanently and reside at Vashishtha Guha. From October 1929 till the end of his mortal life in 1961 he stayed in the Guha.

At Guha he spent a serene meditative life quietly for one year. In 1930 he visited Amarnath, Kshir-Bhavani, Srinagar etc. and returned to Guha. Inspired by the spirit of Swami Vivekananda's service to humanity, he started a Junior High School in Goolardogi village situated at about two furlongs from the Guha. This School is now a Government Inter College still bearings the reminiscence of Swami Purushottamanandaji. Except for short visits to South, Banaras, Allahabad, Lucknow and Delhi, he never moved out of Vashishtha Guha. During his tours to those places he inspired true seekers of God who ever came to him. As bees throng around a beautiful full bloomed-lotus, devotees, disciples, seekers of Truth started coming to him as soon as he attained the Real state of love for God and true knowledge. He initiated more than thirty Brahmacharis into Sanyasa and gave initiation to lot of household devotees. People from Punjab, Kashmir, Harayana, Kerala, Uttarkashi, Uttar Pradesh etc. started coming to him for help in spritual struggle and he also with a wide open heart, acting as an instrument in the hands of the universal Lord, imparted instructions to all who ever came to him irrespective of caste, creed or nationality. For devotees and disciples he was, mother, father, friend and everything in one.

On 13th February 1961 on Mahashivaratri night at 10.50 P.M. he left his mortal coil and merged with the Absolute. Just as all rivers with different names and forms merge into the Ocean dissolving their names and forms, so also, "Neelakanthan, Bhaktan, Purushottamnanda the sage of the Vashishtha Guha", merged into Absolute Brahaman dissolving all those names and forms reminding us the Mukdakopanishad's Sloka –

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽ-
स्तं गच्छन्ति नामरुपे विहाय
तथा विद्वान नामरुपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"

●●●

From "The Life of Swami Purushottamananda" publised by Vashishtha Guha Ashram

Earlier published Souvenir 1987

'My Great Master'

*– Swami Purushottam Das**

It was in the year 1956 Das met the Lord-the Bhagwan-in Vashishta Guha on the way to the Holy Shrine of Badrinath while Das was on a walking tour of our beloved motherland from Kerala. By then Das had covered more than seven thousand miles entirely on foot, during which Das had come across a good lot of sannyasins and sadhus who lived in palacious bungalows all selfcontained, and those who live under the natural shades of trees. From all these our Maharaj is an exception. To Dasa's limited knowledge Maharaj was above all these. He was full of pure love, rather we can darely say that He was the embodiment of love like the Lord Krishna Himself. After this spiritual connection when Das got the golden opportunity to read Bhagwatham under his guidance Das came to know that our master is no other than the Flute-master Lord Krishna. One can see the whole of Krishna-Leela in Maharaj if he is gifted.

Once while climbing up to the road to catch the car, waiting for Him on the road, due to the Das's ego of youthfulness, Das offered Him help, when He pushed Das aside, and ran up, and He reached the road well in advance when he was eighty two years old. Was it not to wash the ego in Das? The very meaning of Guru is this ''गुकारौ अन्धकारश्च रुकार अन्निरोधनम् ।'' Who washes away all the darkness of the aspirants, He is the Guru.

To lift a qualified soul, Maharaj had no formalities. As Krishna says in the Bhagwatham त्यधम – निवृतिश्चमोक्षधर्मरविष्तदा Maharaj followed this very strictly. He had only one aim i.e. to uplift the poor and downtrodden whoever it may be. He had no hesitation in this matter. He had no fear at all. Once He proclaimed that He did everything according to His inner voice. Perhaps this fearlessness lifted Him up to the lofty Himalayas of spiritualism. He used to say that spiritualism is not for the weaklings. To such a height in the spiritualism only few come. He used to say all His achievements are due to the Grace of His Rev. Guruji Master. It is said in the Shatras. गुरोरनुग्रहिरौबयुमानृपूर्ण प्रशान्तये He not only advocated the real path to the aspirants. He showed them too. Once an aspirant approached Him politety and begged Him to write in notebook some good things to be followed by them later.

*A disciple of Sri Swami Purushottamanandaji Maharaj ji

He got red and said, "You are staying with me try to study, from my daily life." It is very hard indeed. His punctuality nobody can follow. Anywhere when sincerity comes in Ramayana or Bhagwath He will ask to repeat the position. Once with very great pain. He asked Das, "Boy! where your sincerity has gone." Immediately Das understood only due to lack of it the master said this and Das became very cautious thereafter.

Even without inviting Him, He used to go to the houses of the qualified aspirants only to grace them, as Lord Krishna asked the cowboys for food to purify their food. Das's Guru Bhai, Srinivasan of Madras used to narrate all these with tears whenever we met in Madras. One can remember Maharajji for days and nights if they are gifted, because Maharajji loved all as His own children. His love was limitless like the ocean, rather He had an ocean of pure love.

Very often He used to say, "Feel", "feel" and actually He felt for others. He not only said but also did it practically. Service to the poor was His real worship. For this He used to throw away all formalities even the poojas for example He used to skip up even the pooja rituals to feed the poor in times. He never waited for the completion of the poojas for this sake. He used to say when these talking gods are suffering from hunger what is the use of doing pooja. He waited for nobody in this affair. He was prepared to serve even half cooked food to keep the punctuality. See! His love and feelings towards the hungry Indeed, very rare.

Finally, He did not leave due to His Prarabdha, but as the Almighty Lord Krishna He left His body on His own accord and that is why He gave hints of His departure well in advance. To prove the divinity He joined with the infinite on the Holy night of the Holy Shivaratri to be with all the qualified aspirants.

"HARI OM TAT SAT"

●●●

Earlier published Souvenir 1987

Do you know when happiness is obtained? We eat some delicious food; hear a melodious song; enjoy an attractive dance. On such occasions the mind becomes tranquil. Happiness is in tranquility. And where is this tranquility? It exists in our own heart. When the mind becomes calm, that happiness just reflects in it, even as the image of the sun fully reflects in clear, still water. OM.

– Sri Swami Purushottamananda Ji Maharaj

Swami Purushottamanand Ji–A deep Vadantin

*Late K.M. Munshi**

A Few weeks previously while we were guests of the Rajmata of Tehri-Garhwal at Anand Kashi, I met a sadhu who lived on the bank of the Ganga in a cave called Vasishtha Guha.

When one morning we visited this natural retreat, we found hanging on the outer wall a portrait of Ramakrishna Paramhansa; the interior of the cave was dark and deep. A shrine of Shiva was installed there. An old sadhu, frail, fragile, tiny, accompanied by his disciples, limped forward to meet us and began to talk fairly fluent English. His name was Purushottamananda Puri.

We met again in the afternoon and had a long talk. He told me his story. He orginally came from Travancore and was initiated by one of the senior disciples of Sri Ramakrishna. After wandering for many years he heard of a cave in the wilderness in 1928. So, with staff in hand and a blanket on his back, he limped his weary way to Vasishtha Guha, determined to meditate there in solitude.

Another sadhu, however, was in occupation of this cave and refused to share his cave with the newcomer. It is easy to leave the world; but very difficult to get rid of onething, the sense of possession.

But Purushottamanandji was persistent; he refused to give up the idea, to live in the cave; he kept vigil outside it for a few days, and slept in the open. He had no food; he had no fire at which to warm himself. He remained in wilderness trusting in God. The ways of the Almighty are inscrutable, he said. "A villager gave six matches to light a fire with. A woman gave me milk and so I managed to live".

The original occupant of the cave eventually left it and went away. Our friend moved in and began to meditate.

After a time Purushottamanandji went on a pilgrimage to Amarnath and returned only after six years. He first cleared the cave of the silt which and been brought down by the river during the floods, and then once settled down to meditate. People from surrounding villages flocked to see him, offered him food and afterwards became his disciples. He took a paternal interest in their welfare; helped them, advised and induced them to build an Intermediate College in the locality. He is now a man of considerable influence in the neighbourhood. Everyone honours and respects him.

He is, I discovered, a deep Vedantin and his ways are simple, innocent, almost childlike; he smiles and smiles all the time. Loneliness, starvation and a hundred other aches mean nothing to him; he lives a real life, possessed of God which gives him perpetual Joy and Peace. He has won this state after years of sadhana.

Before we parted, he admonished me. He asked, had I not had enough of life? It was high time I realised what I really was. 'I wish I could'. I replied.

---

*Former Governor of Uttar Pradesh

From the Souvenir 1987

How I Met My Gurudeo

– Late Ishwari Dayal Srivastava

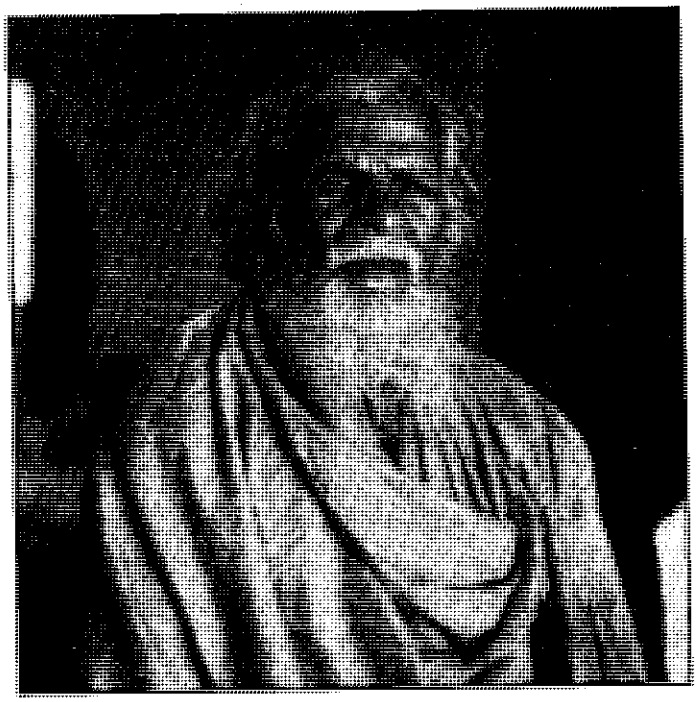

It was the summer season of 1935 when I was about 29 years of age. I started for a happy trip to Mussoorie. My dear mother accompanied me for a Yatra to Shri Badri Nath. We reached Hardwar. There I decided to escort mother upto Deo Prayag and then to return and go to Mussoorie. We came to Rishikesh and started for Deo Prayag in a lorry. On the way, the driver told me that, a Gufa of ancient times was worth seeing and should I like to see it, he would drop me on the road near the Gufa and keep the lorry standing at the next crossing. I agreed. The driver accordingly, after covering a distance of about 24 miles, dropped me on the road. One Yatra companion also accompanied me. I did not tell my dear mother the reason for getting down for the fear that she might not agree. I looked down towards the Ganges from the road. I and my other Yatri companion managed to scale down the slope of the hills. I found the place full of natural scenery. The two streams near the cave, which meet the Ganges make the place very picturesque. It was a solitary place. I wandered here and there and finally reached in front ot the cave. The cave has a natural opening in which a door is fixed. It is about 25'X10'. Inside it is considerably cold, so much so that you need some clothing to sit inside even in the summer season.

At the threshold of Gufa, a young lad of about 19 years was sitting in a meditative mood. He was dressed in lungi and Banyain. It appeared he had not shaved for several days. I took him for an ordinary villager and did not take notice of him particularly. As I attempted to step inside the Gufa with my Yatri companion, the lad stood up and stopped us saying that there was a Sadhu inside the cave. I replied "I shall only see the Gufa and come back. I have no business with the Sadhu. I will not disturb him. " Without further waiting for his reply I stepped inside the cave with my yatri companion.

Here I may introduce the young lad to you. He is Sri Abhimannuji, son of Seth Jai Narain of Sitapur. I only came to know of his whereabouts next year.

It may also be noted here that at that time of my life I had very little inclination for religious matters, and had never attended a Sat-Sangh or waited on a Sadhu for Darshan etc.

As I stepped inside I found the place very

dark. I had hardly taken 3 or 4 steps in the darkness when a voice commanded in English. "Who is there? Sit down." I and my companion obeyed at once. The next moment the voice asked "What do you want? Tell me at once and go away. I have not much time". The voice was sweet and lovely. It acted the magic and took control over myself. I replied "I came only to see the Gufa. I do not want anything. I am enroute to Deo Prayag, where I shall leave my mother for pilgrimage to Sri Badri Nath and myself proceed to Mussoorie." The voice then asked me "What religious books have you read? Does your religion not impose a duty upon you to serve your mother throughout her pilgrimage?" He condemned my going to Mussoorie and leaving my mother to be attended to by others. I kept silent for a second but the voice demanded my decision. I could not think clearly, but extended a promise to go to Sri Badrinath with mother. The invisible Sadhu then laughed heartly at my answer. Soon after the voice asked me to send my companion outside the cave. I asked him to go outside the Gufa leaving me alone, but he whispered in my ears "Babu, do not be foolish. You and I have large sums of money and it is not wise to be separated from each other. Kindly leave the Gufa at once." I scolded him and turned him outside. No sooner he was gone, the voice, to my surprise asked me to utter some holy mantras that were being offered for Japa in the Yatra. I flatly refused and told the voice "I am not going to put up any restraint upon myself. I have no interest in the subject." The voice then in a more familier manner replied "I am not going to put you under any obligation. You are a free man. When you like to recite the holy mantras, do it. It will do you good and no harm."

I considered the matter a trifling affair, I repeated them inunion with the voice two or three times. I did not think at that time that unconsciously, I was contracting the sacred relationship of Gurudeo and disciple.

After this, I stood up to leave but the invisible Sadhu began to shower upon me numerous blessings which made me very happy. While departing he told me not to tell any body what had passed between us in the cave. I inquired if a lie could be told to dear mother if she asked me where I had been so long. The invisible Sadhu replied "Never tell a lie". He further asked me to take his address from the lad sitting outside and if there was any need I might write to him. I found the young lad and my yatri companion outside. I took down the address. From it I came to know the name of the Sadhu Sri Swami Purushottamanandaji Maharaj of whom I did not get Darshan although talked with him in the darkness so long. I did not tell anything to the other Yatri companion until I reached the lorry again.

My mother was anxiously waiting for me and she asked me where I had been so long. I told her briefly all that passed inside the Gufa. I requested her to take me with her to Sri Badri Nath. She asked me if I offered anything to His Holiness on the occasion, I replied, "No offering was needed as it is he who forced me to recite the mantras. I made no choice. More-over he is not to be seen in the darkness of the Gufa. She told me that she would herself take the permission of the Sadhu for my proceeding on pilgrimage with her. So I brought her to the cave again along with the other Yatri companion, by an easier path, which I discovered while climbing up the hills to go to the lorry. As soon as I again entered the Gufa, the voice said to my mother "Blessed are you. Keep your son in your service in the Yatra". He again bestowed blessings as if magic enchanted all those who had gone in the cave. When we had been seated in the lorry my mother with other women-folk began to sing prayers addressed to Gurudeo.

We reached Deo Prayag and travelled on foot from Deo Prayag to Sri Badrinath. I devoted most of my time in looking after the needs and comforts of my yatri companions. As for the recitation of the holy mantras, my mother gave me a Mala and made me to sit for Jape morning and evening. I recited the Mantra hardly for 5 minutes without any enjoyment or inclination, but the natural scenery, solitude, and the Satsangh on the way, had some effect on my mind and made me think of the Lord very often.

Thus, we continued on our journey. When we reached nearly half the distance I got some stomach trouble. I could not digest food and had to ease myself several times the day. For 2 or 3 days I did not tell anybody about the trouble as I did not like rest but kept on travelling. By and by I became weak and one day I had to stop at one big chatti. I told my mother of my ailment. She sent for a Vaid from a nearby village. The vaid came and told my mother that I had an attack of diarrhoea. He gave me some medicines but they did no good to me. The next day of my stay at the chatti I became unconscious. When in the evening I regained my consciousness I found my dear mother weeping. The other companions were also in tears. They thought I was to die there. I was also in great distress. Suddenly the idea of the invisible Sadhu flashed in my mind.

I asked my dear mother to give me a post card for writing to the invisible Sadhu. I do not remember what I wrote but they must be insolent and impertinent words since I thought at the time that it was on account of his wrong advice that I had gone on pilgrimage and attributed all my suffering to him. I remember only that at the end I said "I am to die here after some time and if you can do anything, send your help." I gave him my address at Sri Badri Nath and asked him to send his reply which I would get if I was left alive. I handed over the card to dear mother for posting. After a little while an old lady from our group came to me and said "Let me rub some oil on your belly; it seems you have got some jerks in climbing up the hills and this has caused the trouble." I kept quiet and she applied some oil and began to rub the belly gently. I fell asleep and woke after 3 or 4 hours. I got up to ease myself. To my astonishment I found I had a perfectly healthy motion and felt a keen apetite. I persuaded my mother to give me some khichri at once and after eating a little of it I again fell asleep.

When in the morning I got up, I forgot my serious illness of the previous night. I also did not find any signs of weakness. My mother still looked sad. When I tried to reassure her saying that I was all right she burst into tears and clasped me lovingly in her arms. The hearts of other Yatri companions, both men and women were also moved when I began to cheer them up.

However, the next day we started. My mother hired a horse for me for a week as she would not allow me to go on foot, but I did not use the horse and got some one or another of the Yatri people to ride on it. The cheerfulness of the whole group revived. Finally we reached Sri Badri Nath after walking for about three weeks.

On the day of my departure from Sri Badri Nath for home I received the reply of Sri Swamiji. I did not remember the exact words but it meant "You are a coward. Blessed are those who die in the service of their mother. Had you died in her service you would have lived for ever; now that you are alive the apportunity is lost. Go home directly, do havan and feed the poor."

I did not think of the invisible Sadhu for several months, but in the winter of 1936, my curiosity to

have his Darshan was aroused. I extended an invitation to him to visit Lucknow. It so happended, Swamiji had gone on tour to South India at that time so the letter followed him. After about a month I received a reply from Madras. The letter said "Ready to come to you; send Rs. 200/- by telegraphic money order for travelling expenses." This letter confused me very much, firstly because I had not this sum with me and secondly because I thought that a second class journey much above his standard and apprehensions arose in my mind that I might be deceived even if I raise and send the amount. On the other hand I did not like to refuse him as my miraculous recovery from sickness of last year had produced a good impression about him. I consulted my mother and also other personal friends. Every body shifted the responsibility to my shoulders and wanted me to act as I liked. I could not decide one way or the other and after a week I wrote to him very frankly about all the considerations, both for and against, that were present in my mind. I promised to send him back to Rishikesh, if he could manage to come by raising contributions at that place. I received a reply very soon "Coming on such and such time and date; meet at the City Station, Lucknow". I wrote back to him "As I have not seen you so far kindly keep sitting at the platform till any other Sadhu, if present, is out of station so that I may take the right person to my home".

The fortunate day dawned and I was at the platform for the first Darshan of my Gurudeo. I was eagerly looking towards the compartments when a Sadhu in second class beckoned me with a smile. I atonce ran towards him and lay prostrate at his feet. For the first time he patted me with love and affection. I was so much overwhelmed with joy that I forgot to ask his name in order to be sure of his identity.

He stayed with me for two or three days. I had a feeling of shyness in appearing before him as the matter of his travelling expenses was still troubling me. I was astonished to find that he himself opened the subject and asked me "Why do you look so shy. You should understand all the formalities that are connected with the invitation of any person." I apologized in my own humble way. He smiled and gave me some money and said "I do not need this money, take it for the children." I hesitated in receiving the money. He said you are to obey me. You are meant to receive from me. My Gurudeo also used to give me money and I am following in his footsteps. The third day he went back to Rishikesh. When he was ready for the station. I asked him "What class do you intend to travel? I would like to purchase the ticket". He sent for Seth Jai Narain of Sitapur who had come to see him off and directed him to purchase the ticket. He told me not to worry as Sethji was a richman and he must spend for the ticket.

While parting, I prostrated myself at his feet. He pulled me up lovingly and it seemed he whispered into my ear.

"Oye of little faith! wake up! wake up to your Holy Majesty! and a single glance from your royal indifference a side wink from divine recklessness is enough to convert the driest hells into charming heaven."

●●●

From Souvenir-1987

Glimpses of SADGURU MAHARAJ

– *Brahm Sarup Khetarpal*

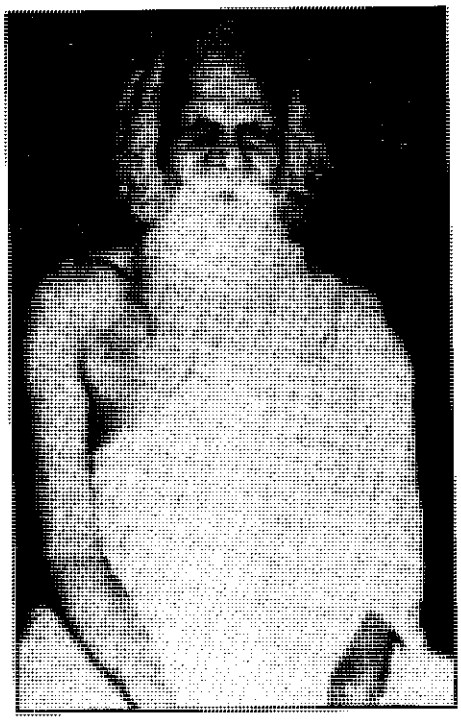

Like Concept of GOD, as some are Aastik, some Nastik and some Agnostik, the Gurudass Institution is also under controversy. Some contest its utility, some call it unnecessary evil, exposed to exploitation. The mystry, as revealed to me, is unfolded to my brother disciples.

Lord Mahavir, Budha, Krishna and Nanak, all talked about the "DHAMA" DIVINE ORDER, VIDHI, VIDHAN or VIDHATA governing this world. All intellectuals hold the view that the world is a Cosmos (Pre-arranged) and Not a CHAOS (Accidental). When I reached teenage, started dreaming for Guru a lean and thin figure, a Tapasvi Yogi, as my Spiritual Precepter. I visited Sivanand Ashram, Rishikesh, attended Divine Life Celebrations for five six days in 1943, met, talked to a few saints and searched for a Yogi Saint. They all told me that mostly there were Bhagti Margi saints in Rishikesh. Only one Lachmandas Yogi lived in Gangotri. A graduate young saint at Swarg Ashram offered me the Works of Swami Vivekanand Maharaj. 'Raj Yoga'-chapter therein, inspired me very much. I visited Vashisht Guha, after six days stay at Sivanand Ashram, after getting the address from the young Saint of Swarg Ashram. I had come to know the name of the Guha from the biography of Swami Ram Tirath by Puransingh who said that Swami Ji had stayed at Brahmpuri and then at Vashishtha Guha later moved to Valley of Flowers, after taking Sannyas. I did not succeed in getting the Darshan of Gurudev, who was away to Badrinath. During second trip next year, we met and had the privilege of a month's stay with him. He met my all aspirations, and wishes. One evening he asked me to follow him with the Wooden Commandal down the hill, in the jungle and after attending calls of Nature, and wash out, sent me back to kutia. He sat down with a cow dung cake burning, to ward off Mosquitoes & was there for 3-4 hours in meditation. Swami Prakashanand Ji told me that he often saw Maharaj Ji in Samadhi for hours at Two O'clock in the night and other times. Maharaj Ji was always Blissful, laughing like a child. He never delivered long discourses, only whishpered a word or two, as comments or instructions. He X-Rayed the minds of the disciples and removed the doubts, before they emerged in the mind. One evening, when I returned from the Ganges, having severe giddiness, he from a distance told me, "you put too much stress on your forehead, better concentrate on Heart". I followed him and it has been a smooth sailing since then.

Time, Distance, Duality had no meaning for him. He had realised the Akhand, Anant. Advait & Kaivalya state. Swami Akhandanand Ji Maharaj a great saint of Brindaban, once visited him and remarked that Maharaj Ji was an Enlightened Soul and totally free from the Shackels of the mind. Maharaj ji said to him, that there was nowhere to go or come from; "an Absolute state."

Gurudev's ways were mysterious. During my last visit to Guha on 2nd June, 1960, Maharaj Ji was sitting with eyes closed on the Gaddi. I did my Pranam and Gurudev with eyes half closed directed me to visit and see the Guha, like many others, who called at the Guha. I was shocked and thought that although I had given a Cow to Maharaj Ji, he had forgotten me. Maharaj Ji opened his eyes and loudly spoke that 'He gave me a cow'. He gave two indications, that he was fully conscious and secondly he humbled my ego. I was ashamed of my folly (I may add for the information of the brother disciples, that in 1945, there was no cow at Guha, the previous one having been killed by Baghela, a Garhwali offered a cow at hundred rupees, which I could not afford at that time. I could spare Rs. 60/- only, which he refused and went away. I had been praying that day and night that he may agree to the said amount, as I was unable to spare more. So he turned up next morning with the cow and calf and accepted the said amount. Maharaj Ji Ki Lila ! Again on 6th June, 1960, while departing, I made some offering to Maharaj Ji who kept under the bag, he was sitting on in the Samadhi Room. I wished, Maharaj Ji may count the same. To remove my chronic foolishness, Maharaj Ji opened the lid of the cash box lying beside him, which was full to the brim and asked me to take as much money, as I liked. With humbled ego, I touched his feet and went away, 'I am with you' the compassionate Voice, I have been missing since then. A year after, Gurudev left his physical body. During Swami Naradananda lecture, I heared that one should have a live Guru. Although I did not subscribe to the idea, I started missing him, as I could no longer serve, talk and touch him physically. When Pangs are highest, GOD is nighest, Justice Telang said. In 1965 one night, at eleven, sleeping under the open sky, I had the Vision, as fresh today, as forty years back. Gurudev appeared before me, sitting on the chair, and asked me 'Hey, do you know, where this world come from.' The question, I had asked him in 1945, and he had replied by the example of Spider and the Web. I gave the reply 'AAKASH Sir'. 'No, no I shall tell you', he replied. He got up from the chair and entered my Heart, as a Dazzling light, never experienced in life before. He, who had been with me once– consoling, counseling physically helping me, was now IN ME. I felt I started reciting some stanzas of Shaikh Sadi and Omar Khyam of Iran. 'Man tan shudi; tan man shudi. Na man Deegrey, Na tan Deegray. ME is Thee & Thee is Me; None is Different'. There was a wall (Of Duality) beyond which I could not see; but once broken, there was no more of Thee and Me. 'Maharshi Raman also has mentioned in the forty verses of prayers that if I am a sinner or degraded soul, It is all you. I am no where. It is you and you alone, who Exists. Guru Maharaj also held the view that He alone Exists; He alone, None Else; None Else.All yatras Bhautic, Devic or Adhayatmic start from Truth. i.e. Advait and Kaivalism and end in Keval state with mystifying illusionary, duel experiences in between, as long as we don't cross this Bhavsagar.

Some more glimpses of Gurudev.

Shri R.K. Vatal a great soul very near to

Maharaj ji once sitting with Maharaj Ji, started losing his balance of mind, when he saw everything around him melting & vanishing he rushed to his room and had puffs of few cigaretts before he could get normal. Maharaj Ji later told some one, He gave experiences to Vatal, but he could not retain them.

Shri Sita Ram Ji Srivastava another pious Soul & great devotee of Maharaj Ji narrated to me. One winter night he was sleeping in a room, in the Ashram, there he experienced very dazzling light in the midnight, puzzled he covered his face with the quilt. Still the light did not stop. He took it up as Karishma of Gurudev.

Guru Maharaj discouraged worldly sidhies. When in 1945, Swami Ramanand Ji Maharaj (who took sannyas later on) visited and stayed for one night, during my stay there along with 2-3 friends, in search of a Tantric Labhoo Ram. Maharaj Ji gave some sarcastic remarks about this practice and diss1uaded me to attempt for such sidhies. Like all other Great Saints Guru Maharaj used to say 'Real Actor is Lord Himself'. Two more episodes for readers and shall close. Shri Sitaram Ji Srivastava ones told me that one morning at Guha, he was thinking that he being a simple Kayastha, had no knowledge of Sanskrit and Puja Vidhi Vidhan, how shall he get the salvation. When he went to Gaddi in the afternoon, Ramayan was being recited. Maharaj Ji stopped the recitation and asked the reader to open certain page and recite the chaupais, where Hanuman Ji has raised the doubts before Bhagwan Ram, being a Kutil Kamee Vaner, where did he stand chances of Salvation. Bhgwan told him that nobody was humble by birth. Only sincerety counts. After that Maharaj Ji asked to continue with the old recitation. Only Maharaj Ji and Shri Sita Ram knew the secret channel, they were using. Kisi ne Na Dekha, Kisi ne Na Jana.

The other Episode concerns this chronic sinner. In 1960, I took my Mausi, elder sister of my mother, a widow for the darshan of Maharaj Ji. Maharaj Ji embraced and kissed her. I was a bit disturbed that my Mausi may not take it as immoral. In the afternoon we visited the Gaddi, Maharaj Ji asked me to bring some book from the library, on the roof, I brought one as asked by him to read it. It was a last answering my morning doubts. Where shall one get such a Sadguru, talking Heart to Heart, without any malice inspite of so many follies on my part, in bones and flesh, so close to me. OM.

●●●

God is always dwelling in ourselves. Verily, He is the Eye of the eye, the Nose of the nose, the Skin of the skin, the Tongue of the tongue, the Ear of the ears and the Mind of the mind. It is indeed impossible for us to see, breathe, touch, speak, taste, hear or think without His grace. Although this is the truth, who does remember Him always ? This indeed is a great wonder! OM.

– Sri Swami Purushottamananda Ji Maharaj

Some Reminiscences of my Gurudev

– Dr. M.C. Mehrotra

I had my first darshan of Maharaj ji when he came to Barabanki in 1948-49 staying in the house of Late Sri A.K. Vatal. I was a High School student then and wanted to ask some spiritual question from him. But I became tongue tied and could not muster enough courage to question him.

My parents were given initiation by him and we used to visit him every time he came to Lucknow (Shukla Ghat where he used to stay) reverbrated with devotional fervour of hundreds of devotees. In his presence the atmosphere was electrified with the divine current of peace and harmony.

Once I went to Vashishta Guha with my cousin brother during summer vacation some time in early fifties when I was about 18 years old. Unexpectedly he asked to come to him next morning after bath for "Mantra - Deeksha." It was sheer good fortune to be so blessed by Maharaj ji, even without our asking ! During initiation he asked me who is your Istha (Personal God). I replied "Ram". He accordingly gave me the "Ram Mantra" and asked me to go down to my room and meditate on the gracious form of the Lord. He told me to keep away from sexual attraction as the looks of a women was like a flame which would burn all one's virtue This advice sounded similar to what Tulsidas ji said in "Ram Charita Manas".

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग।।

On another occassion, I was sitting in front of him with a bent back. He admonished me to always sit erect without stooping and breathe through the nose - then no disease would come to you. From that day onwards, I have made it a practice to sit erect with the neck and spine in one line.'

Once, after the "Satsang" was over in Hanuman Setu Temple in Lucknow, Gurudev ordered "Prasad" distribution, somehow, it struck me that Maharaj ji had never asked me to help in Prasad distribution. Immediately, he pointed at me and asked me to distribute it. Another instance of his mind reading was when I had an altercation with a clerk in my college office and he confronted me with the question, "what is the matter?" I was dumb founded

"Jai Jai Gurudev"

On his Lotus Feet*

*Late Dr. A.N. Srivastava***

Sun and moon do not need any introduction for anybody but it is essential to make an infant learn what they are. Likewise it is necessary for a spiritual aspirant to be told about Maharajji, His Holiness Shri Swami Purushottamanandji Maharaj.

He was a light house for those who swam in the ocean of spiritualism to reach the goal of truth and happiness. He was an eternal searchlight for sectors of pearls of spiritualism in seas of present day turmoil. He had immense love for all those who sought refuge in him and solved their spiritual problems in no time. Maharajji used to give solution to many intricate problems by infusing knowledge into the minds of aspirants and seekers themselves. One wondered how simple those puzzles became at mere approach to Pujya Gurdev. There are multitude of persons, devotees and otherwise who had an universal recognition of this unique quality in him.

His face always beamed with joy and happiness in all circumstances and he was in true sense a Sachidanand - an embodiment of love happiness and contentment.

He had multiple Siddhis at his command but rarely used them. They were enforced in action only in dire necessity or urgent need of his devotees in severe physical ailments or frenzied mental state.

For him there was no distinction of caste or creed, high or low whether rich or poor everyone found same place in his heart and mind. He was acclaimed by highest saints of modern times as a 'Brahmarishi' and one of the greatest yogis of Uttarakhand. His spiritual fragrance spread far and wide and attracted the butterflies of spiritual devotion longing for sweetness of eternal nectar. The rarest quality in him was that every devotee considered himself as the most beloved personality of Maharajji.

All his devotees who have submerged themselves to his lotus feet are constantly being showered upon blissful blessings and achieving positions of distiction in spiritual field. True is the saying – "One who searches depths of seas seeks the pearls of spiritualism."

One who sits at the shore gets deprived of that bliss.

Brother hold Him tight,
With all your might,
He will lead you
To the path which is right,
And make your passage bright,
Show you a pleasant sight,
And reveal in Himself
The true eternal light.

●●●

**Ex. convenor Trustee of Sri P.N. Trust.
*From the Souvenir - 1987

Unceasing Kindness of Maharaj ji

– A.R. Verma

The devotees of Maharajji are well aware of His glory and how much compassionate he is for everybody. It is not easy to put in words his way of action to dispel the problems of devotees who approached Him from time to time either personally or mentally (from a distant place). So many times it happened that you are gathering courage to tell Him your problem and in the meantime, He is telling something to other people which is actually the solution or guidance for your grievance. His unique method was to partially hear the devotee followed by His childlike laugh without any advise to him. It appears so simple but it was more than enough to make the bhakta trouble-free. That is His Ramban. I have used word IS specifically as following are few unforgettable moments of His unlimited kindness showered on me in the period of nearly last 30 years though His body was no more in physical state :-

1. I was solving my final paper for Board Exam and the subject was Geometrical Art. Only one minute was left and I was to handover the answer book to the invigilator who was asking for the same. All my attempts had already failed as I could not draw the correct diagram. In the end, I prayed to His lotus feet and made the final attempt and the result was, the accurate required diagram.

2. During 1985, I had been deputed to Srinagar (Garhwal) by the Company, where I was employed, to collect order from a Govt. Department though that was not my job. I had already made three visits but without fruitful result. At last, Management asked me to make last attempt. When my bus was crossing gate of Ashram on the road, it was precise 12.00 noon in my wristwatch but due to lack of time, I could not drop at Goolardogi, I had prayed to Him in the bus itself that I should be in His feet by 12.00 Noon, alongwith the order, the next day. I reached Srinagar in the afternoon, met the concerned officials and was advised to see their Chief who had come from Nainital. Anyhow by the grace of Maharajji, things moved smoothly and the next day at 8.00 A.M. I was again in bus for back to Goolardogi alongwith the order. When I reached the Gaddi, I kept an order in his Lotus feet and saluted him, it was exact 12.00 noon as the clock struck 12 at the same moment.

(Note : In those days, battery operated clock was not placed near the door of the Guha).

3. In 1994 when the birthday celebration of Maharajji was over, I was going back the next day after having lunch. I had been accompanied by Sonu (my nephew). Actually, I had to catch the train, leaving at 3.45 p.m. from Haridwar to Moradabad. When we reached the road near gate of Ashram with our luggage, it was already 2.00 p.m. but luckily we immediately got the bus which was directly going to Haridwar.

As it was very necessary for us to catch the train, I was praying to Maharajji throughout the journey for his kindness so that we may catch the train. Between Shyampur - Raiwala, the bus delayed for some time due to altercation at Railway Station and rushed for tickets but the Booking Clerk has asked to check whether the train is still available or not. On my insistence, he gave tickets and we reached at Platform No. 1 whereas the

train was ready to move at Platform No. 2. Moreover, the signal was down.

We were standing helplessly as we were unable to cross the railway lines with luggage and there was no time left to go by over-bridge. Immediately then an oldman had come from somewhere, asked us about our problem and on hearing us, he had advised to go through the over-bridge only. He assured us that train will not move and had shown us the railway token, to be handed-over by him to driver to move the train. He assured that token will only be given to the driver when we will be inside the train. As soon as we entered the compartment, the train had moved and we reached destination in time.

4. Probably in the year 1997, I had been in ashram, alongwith a close friend, to attend the birthday of Maharajji. We had two garlands which were to be offered to Maharajji in the temple. Before beginning of Archana, we had garlanded Maharajji and the malas could be seen very clearly from a distance too. Thereafter, there was a queue (or you can say a chain) of garlands coming one-by-one and being offered to Maharajji. Later-on one time had came when our garlands were totally covered under the other garlands and were not visible. I was stunned and praying silently to Maharajji as what is being done by Him. But, there was a very merciful and fascinating smile on the face of Maharajji which I could not understand at that moment. After Archana and Havan, when the Bhandara was going on, I got a chance to have darshan again in the temple when I could not believe my eyes as there were only two garlands in and around neck, shoulder and chest of Maharajji and that too were our's.

5. During Archana on the next birthday, I was inside the temple which was jam packed and my garland was kept behind the picture of Maharaj ji at Gaddi. There was no space to move and I was standing helpless looking at Him and thinking that I am unable to offer my garland whereas other gurubhaies where putting their garlands one by one. Moreover, the Aarti was just to begin. At once, a girl, named Sadhana, came at the door of temple and had thrown my (the same) garland towards me asking, "Uncle, Maharaj ko Mala Pahna do".

6. During the occasion of last Shivratri, I could get a chance to visit Ashram. I had taken a packet of sweets from Lucknow and praying in heart to Maharajji that the same may kindly be offered and accepted by Him during the Archana/Pooja being held at 10.50 p.m. in Samadhi Room. It is beyond my pen to explain the blissful joy experienced when the same item was put in my hands as prasad by Swami Chaitanyanandji after completion of Archana/Pooja.

In nutshell, I affirm, that depth of ocean is limited and there may be a limit for vastness of sky but the kindness of Maharajji is beyond every limit. Further, His kindness, guidance and even darshan are always possible everywhere provided you remember/pray to Him regularly from innermost of the heart and follow the path shown by Him with all sincerity, devotion and blind-faith.

●●●

purport of our visit. At first Guruji declined to accept Madhava's version translated by me in English. But after a while he conceded to and as he was observing a vow of silence (mauna brata), wrote something in English on a slate with a piece of chalk conveying something spiritual which I cannot recollect after such a long lapse of time.

After a while he directed us to wash our hands and feet in the nearby Ganges flowing endlessly just by the side of the Ashram and offered Prasadan which readily quenched our hunger and thirst. Then Guruji beckoned me to go aside and had Madhava all alone with him before the statue of the Shiva, the presiding deity, and initiated him, with a view to enhancing Madhava's spiritual uplift. I was later told by Madhava that with a few day's practice, the lessons imported were of a high standard and of a high magnitude to attain to its performance.

Later we were taken round the Ashram and was astonished to find many distinguished assemblage there, who came from far and near. However, with a heart full of bliss and rejoice and with blessings of Guruji we returned back berserk, fully contended to Lakshmanjoola by bus towards evening to take shelter and rest for the night at Baba Kalikambliwalla's dharmashala, Rishikesh, wherefrom we had started for the cave in the early hours of the day. Incidentally, it may be recalled that none of us had toured those areas before and, therefore, we did not have any knowledge of any bus route plying beside the Goolar Ashram towards Kedarnath or Badrinath.

May the spirit of Guru Maharajji bless us all and help reach the goal of life, which the West does not know yet. I felt with a thrilling shudder that the hyle (i.e. forest is savage but the Via rupta (meaning a passage cut through) is written. Let me confess that while starting from home, I had a sailor's nostalgia but after viewing Guruji with my naked eyes shrowded with a esoteric charm, that romantic feeling gradually caved in. Still today I remember with gratitude and shall hereafter remember till the last breath of my life Guruji as an embodiment of compassion and love sitting majestically in the posture of an 'ashana' like a 'Yogi' at the mouth of the cave of Lord Shiva on a piece of tiger skin in a benign, and tranquil atmosphere, I felt consciously that homing could never give such a deep feeling and an inlaid murmur of solitude and peace reigned over the entire region.

●●●

Zero is only a zero. It has no value at all. But when the figure "1" is added by the side, all zeros get value according to their position. Similarly, it is this One (the Lord) that gives value to the whole universe. If this One were absent, the universe would be nothing but a zero. Behold this One which is the Essence of everything, always and everywhere. Why do you dwell on the zero and face destruction? OM.

– Sri Swami Purushottamananda Ji Maharaj

Portrayal of Feelings

– Superna Srivastava

When me are in the midst of improbability
And darkness is spread far and wide
When thoughts are shrouded by the air of mystery
Even the aura is being snide

All our wishes when Fade away
Unknowingly our steps are going astray.
Intricacy clutching our hopes in its fist
Our sky is when enclosed with mist.

Panorama of life is when getting imprecise
All we can view is a figure of demise
When Endeavors prove to be futile
And our feelings are encircled by turmoil.

We still know that it can't be the end
Because he is there to amend.
He picks our faults and makes corrections
He's the only personification of Perfection.

He watches us from every corner
He's our preacher and we the learner
He smiles at our irrational deeds
When we nurture the arrogances seeds.

He picks us up from the ravine of loneliness
and gives us a way out this Barrenness
He gives us wings to fly high
Beneath this infinite blue sky.

Whether we memorize him consistently or not
we are tied with him in a strong knot.
He remembers us at every moment.
Either we are exultant or going through torment.

All we learnt through these years
That he's the ane who can dry our tears
He does everything for our best
Just to bestow us a feeling of zest.

Expectations when looses grip
He becomes the saviour of our destiny's ship.
We opened eyes under your blessings - the Almighty.
And wish to grow under the same till eternity.

Fortunately we are blessed by his grace.
To visit Guha - the most sanctified place.
Here the ambiance pours out pureness.
As we step in, our thoughts are filled with intense holiness.

By the side, is flowing the Ganges.
Wearing A veil of mountain ranges
Shimmering sand adorned by falling sunrays
The game of hide and seek the sun plays.

The sky is stretching it arms to embrace
Thoughts are flying with the winds pace
Twittering of birds all around
Rhyming with the temple's bells sound.

Words fall short when I begin to portray
Thraugh this ode I just made an effort to say
All that I ever wished to put in this depiction
It is just a reflection of affection.

I owe it all to you Gurudev
You gave my mind a brainwave
A direction to my feelings
You gave my words a meaning.

I don't posses the knack of articulating
Still I'm dedicating this piece of writing
To the only one who is there to save
He's none other than you, my Gurudev.

●●●

SHRI PURUSHOTTAMANAND TRUST
VASHISHTHA GUHA ASHRAM
Goolerdogi, Tehri Garhwal, Uttaranchal
(A brief report)

Vashishtha Guha is a holy place on the bank of river Ganga about 22 km. from Rishikesh on Badrinath motor road. The cave derives its name after famous Muni Vashishtha of Hindu mythology. It is believed that the Muni practiced tapasya in this cave. Brahmlin H. H. 1008 Shri Swami Purushottamanandji Maharaj also performed tapasya at this sacred place for a number of years and lived here from the year 1928 to 1961. Following the tradition of great Indian Saints he did not prefer to build any dwellings at Vashishtha Guha. For avoiding inconvenience ta large number of devotees and Saints visiting him, he consented at very later stage construction of three rooms of semipermanent nature.

Maharajji also started, for the benefit of the local people of this remote locality, a school in the year 1949, which was run by "Brahmacharis", and no sooner it was established and patronized by local people, he got it handed over to the then Education Department of U.P. Govt. With his blessings the school has naw been upgraded to the level of Intermediate.

Maharaj took Mahasamadhi an the auspicious parva of Mahashivratri on 13th February 1961. There were many disciples of Maharajji scattered all over India and abraad. A few of the Sannyasi disciples lived at the Guha. After His mahasamadhi, with the consent of all the inmates of the ashram a trust was formed to maintain and keep the pious place intact so that large number of his devotees, disciples and future spiritual aspirants may continue to be inspired and guided not only in spiritual aspects but also in solving their complex problems of material life. With this purpose a trust in the name of "Shri Purushottamanand Trust" was formed in the year 1962 with Sri B.K. Kaul, I.C.S. as its president.

The trust, since its inception has been receiving co-operation not only from the devotees who were fortunate enough to have had 'darshan' of Maharajji or have met him but also from a large number of such persons who have later visited this holy place and felt attracted and inspired. The number of such devotees visiting Guha is continually increasing every year.

The trust with generous cooperation has constructed a temple with statue of Maharajji in 1975, a guest house near Dharam Shala which is on way to Ashram from motor road and an eight beded hospital with residential accomodation for doctor and some additional rooms, bathrooms & toilet etc.

The trust is running the hospital with an allopathic doctor. Medicines are given free of charge to the patients. An ambulance is also maintained to shift the serious patient in emergency to Rishikesh. The trust has also been taking interest in development of school founded by Maharajji even after its handing over to the Govt. A few stipends to the deserving children are also being given.

This souvenir is being published on the auspicious occasion of 125th birthday of Maharajji. The articles contributed from his devotees and disciples would give the glimpses of the Great Saint.

The trust is very thankful to those who have taken the trouble in contributing articles depicting their experiences with Swamiji. Some articles have been received very late and hence, cauld not be published in this souvenir due to shortage of time and the trust regrets the same. The trust is also very thankful to those who have taken great pains in getting the souvenir published.

In the end, the trust would not forget to express its humble gratefulness to Swami Chaitanyanandji whom all know very intimately and also about his totally dedicated services. He is managing the Ashram since last fortyone years. His style of management reminds us the compassionate touch of Maharajji.

●●●

श्री गुरुमहाराज जी की जन्म शताब्दी (१९७९) पर निर्मित शताब्दी द्वार

शताब्दी द्वार के निकट आश्रम का अतिथि गृह

श्री गुरुमहाराज जी द्वारा गूलर डोगी में १९४९ में स्थापित स्कूल

आश्रम द्वारा निर्मित एंव संचालित धर्मार्थ चिकित्सालय

आश्रम के प्रकाशन

- अध्यात्म वार्ता
- गीता की एक झलक
- गुरु गीता
- उपदेशामृत

- The Life of Shri Swami Purushottamananda
- A Peep Into The Gita
- Spiritual Talks
- Guide to Spiritual Aspirants

My Lords,
Lord alone is true, Lord alone is great and Lord alone is non else, non else, non else

– Shri Swami Purushottamananda ji Maharaj